संन्यासी और सुंदरी

'तुम्हारे हृदय में लौकिक प्यार का उद्भव तो अभी ही हुआ है।
इसके पूर्व एक वासना थी
और वासना नाशवान् होती ही है।
वासना के नाश के साथ तुम्हारे हृदय का समग्र
कलुष धुल गया है।
प्रेम का निर्मल निर्झर तुम्हारे उर में प्रवाहित होकर
सात्त्विकता, सादगी और सुबुद्धि का संचार कर रहा है।'
यह सब कहा था आचार्य उपगुप्त ने,
जो कि एक संन्यासी थे और सुन रही थी रूपगर्विता वासवदत्ता,
जो कि परम सुन्दरी गणिका थी।
पढ़िए अनुराग और विराग की जबरदस्त टकराहट का
एक विशिष्ट उपन्यास जिसे निश्चय ही क्लासिक
की श्रेणी में रखा जा सकता है।

कुछ सम्मतियां

☐

संन्यासी और सुन्दरी कथाकार का नवीनतम उपन्यास है। यह पठनीय एवं रोचक है।

—महापण्डित राहुल सांकृत्यायन

☐

उपन्यास में प्रेम, यौवन, सौंदर्य का भाव समुद्र हिलोरें ले रहा है, तो दूसरी ओर गूढ़ दार्शनिक तत्त्व विवेचना, आदर्श तथा जीवन के नैतिक पहलू का मंगल वातावरण भी महक रहा है। —डॉ० रामचरण महेन्द्र

☐

पुस्तक रोचक, वर्णन गंभीर, सरस व आकर्षक है।

—डॉ० शिवपूजन सहाय

☐

प्यार और वासना की चिरन्तन समस्या पर आधारित यह उपन्यास चित्रलेखा की श्रेणी में आकर राष्ट्र-भाषा की श्रीवृद्धि करता है।

—विशाल भारत

☐

यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र'

संन्यासी और सुंदरी

हिन्द पॉकेट बुक्स

संन्यासी और सुंदरी

मंगलामुखी ने मंद मुसकान के साथ कहा, "सौन्दर्य जीवन की पुण्य ज्योति है।"

"नहीं, क्षण-भर में अस्तित्व विलीन करने वाली एक स्फुलिंग।"

"मैं इसे नहीं मानती।" अर्धविकसित कमल-सदृश नयन खुलकर पुनः निमीलित हो गए।

"सत्य को सत्य मानना ही पड़ेगा, आज नहीं तो कल, कल नहीं तो कुछ काल पश्चात्।" राहुल ने शय्या पर शायित रूप-गर्विता नारी वासवदत्ता से गंभीर स्वर में कहा, "वासवदत्ता! एक क्षण का दम्भ प्राणी को विवेकशून्य बनाता है। गत और आगत से अनभिज्ञ बनाता है; पर सत्य सत्य होता है।"

"मैं नहीं स्वीकारती।"

"यौवन में मदान्ध वैभव सागर की उत्ताल तरंगों में प्रवाहित होने वाले प्राणी को उस मरुभूमि का ज्ञान नहीं होता जहां तृष्णाएं विकलती हैं। पीड़ाएं संचरण करती हैं।"

वासवदत्ता शय्या पर बैठ गई। उसकी मुखाकृति तीव्र उत्तेजना के कारण अधिक आकर्षणमयी बन गई थी।

अपने समीप पड़े हुए मधु चषक को उठाकर एक घूंट लिया,

फिर समीप बैठे सामन्त-पुत्र लक्षाधीश मनु के हाथों से थमा दिया। मनु ने एक क्षण उनके अनुपम अंग-प्रत्यंग को निहारा। किस अज्ञात सौंदर्य-सरोवर से निकला है यह रूप-कुसुम! अग्नि-शिखा से प्रज्वलित। अद्भुत स्वर्ग-किन्नरी-सा। घनघोर-मेघ शृंखलाओं के मध्य पूर्णिमा-चन्द्र-सा।

मनु के हाथ का चषक हाथ में ही रह गया। रजत चषक पर जड़ित एक मणि में अपने-आप को देखते हुए वह बोला, "यह अलौकिक सौंदर्य क्षणिक भले ही हो; पर कविवर राहुल, यह क्षण अनंत है। इस क्षण को किसी आयु की परिधि में नहीं बांधा जा सकता। कविवर! वासवदत्ता ठीक ही कहती है कि सौंदर्य जीवन की पुण्यज्योति है।"

राहुल ने अपने स्कन्धों से स्पर्शित केश-राशि पर हाथ फेरते हुए कहा, "यह मधु का प्रभाव है श्रीमन्त!"

मनु ने राहुल की ओर देखा। सोचने लगा, यह तरुण प्रकृति-विरुद्ध हो रहा है। यौवनावस्था में वैराग्य की धुन! वह मधु का घूंट लेकर वासवदत्ता से बोला, "यह राहुल प्रकृति से विद्रोह कर रहा है। कोई बात नहीं। वस्तुतः कुछ प्राणी अपने से अत्यधिक ऐश्वर्यशाली लोगों को साधु-संन्यासी, तपस्वी और भिक्षु बनकर विरक्ति का उपदेश दिया करते हैं; किन्तु वासवदत्ता! तुम इसकी चिंता मत करो।...मुझे पिलाती जाओ।"

राहुल मन-ही-मन उद्विग्न हो उठा। वासवदत्ता उसे बार-बार आमंत्रित करके बुलाती है; पर उसकी बात को तनिक भी नही मानती। वह अपलक दृष्टि से मदोन्मत्त वासवदत्ता को देखता रहा, जो मधु के स्वर्ण पात्र से मनु का चषक भर रही थी और कह रही थी, "मनु! तुम जानते ही हो कि तुम नगर की प्रतिष्ठामयी पातुर के यहां हो, निष्ठामयी नर्तकी के यहां हो और विश्रुत गायिका के यहां हो। यहां रूप और मधु का अनंत निर्झर प्रवाहित होता है। तुम्हें सर्वस्व मिल सकता है। यहां

किसी वस्तु-वैभव का अभाव नहीं।"

राहुल सव्यंग्य हंसा। बोला, "यहां केवल प्रेम और त्याग से परिपूर्ण हृदय का अभाव है।"

"हृदय!" चौंक पड़ी वासवदत्ता। राहुल की ओर उन्मुख हुई। उसकी दृष्टि में व्यथा की अग्निशिखा जलती दिखाई दी, जैसे रूपाजीवा के अन्तस् में दबी नारी को किसी ने कचोट दिया हो। निमिष-भर वह जड़वत् रही, फिर एक 'जनसम दर्पण' के सम्मुख आई।

"जो अस्ति है, वही सत्य है।" उसने प्रसंग को बदला। वह चाहती थी कि राहुल प्रेम, हृदय और त्याग की चर्चाओं से वातावरण को भाराक्रान्त न कर दे।

"भोग-विलास के महासागर में विलिप्त प्राणी को प्रत्येक झूठ सत्य लगता है। उसका विवेक, उसकी प्रज्ञा और उसका गुण सर्वस्व वासनालिप्त हो जाता है और उसे नाशवान पदार्थ जीवन के परम सत्य प्रतीत होते हैं।"

वह तुरन्त राहुल के सन्निकट आई। उसके हाथ पर अपना हाथ रखती हुई बोली, "तुम्हारी श्रेष्ठ उपयोगिता है मेरे पास। मैं तुम्हारी वाक्चातुरी पर मग्न हो जाती हूं। तुम मुझे जीवन-दर्शन के अन्य पहलुओं का ज्ञान कराते हो।...आओ मेरे साथ।"

वह रहुल का हाथ पकड़कर प्रकोष्ठ में ले आई। तारों-जड़ित नील-गगन। उसकी धीमी-धीमी आभा में वासवदत्ता ने राहुल से निवेदन किया, "मैं सच कहती हूं कि तुम पर अपना सर्वस्व अर्पण करती हूं।"

"मैं सर्वस्व अर्पण का आकांक्षी नहीं हूं। मैं सौंदर्य के दम्भ को सहन नहीं कर सकता। मैं वैभव को वहन नहीं कर सकता। मैं केवल तुम्हें अपने सृजन की प्रेरणा के रूप में देखता हूं।... मुझे तुम्हारा क्षणिक रूप-समर्पण स्वीकार्य नहीं।"

"मेरा अपमान मत करो। मेरे सौंदर्य···।" वह बुदबुदाई।

राहुल खड़ा हुआ। दीवट पर रखे दीपक को उठाकर लाया। उस दीपक की ओर संकेत करके बोला, "यह क्या है?"

"दीपक।"

"यह दीपक तुम्हारा 'अस्ति' है। यह अपने प्रकाश पुंज से तुम्हारे सौंदर्य और वैभव की सृष्टि को भासित करता है। यौवन की समस्त वैभव कलाकृतियों, सुखद उमंगों-तरंगों व उत्थान-पतन का दर्शन कराता है; किन्तु जब यह बुझ जाएगा तो?"

"तो?"

"तो घोर शून्यता छा जाएगी, निविड़ तिमिर छा जाएगा।" और राहुल ने फूंक से दीपक को बुझा दिया। प्रकोष्ठ में अन्धकार का साम्राज्य स्थापित हो गया। कुछ क्षण पूर्व जो अतुल वैभव-राशि बिखरी पड़ी थी, वह केवल कालिमा प्रतीत हो रही थी, एक छाया-सी दिखाई पड़ रही थी।

राहुल बोला, "यह अन्धकार ही सत्य है। यह अन्धकार ही आलोक है। कहां है तुम्हारा सौंदर्य, रूप और वैभव!··· सभी एक झटके में अदृश्य हो जाएगा।···नमस्कार वासवदत्ता!"

वासवदत्ता विमूढ़-सी खड़ी रही। चतुर्दिक् अन्धकार विस्तृत था। राहुल चला गया, तो उसे अपने अस्तित्व का ज्ञान हुआ। वह अन्धकार में आकुल हो उठी। परिचारिका को त्वरा से दीप ज्वलित करने की आज्ञा दी और स्वयं उन्मन-सी केलि-कक्ष में गई, जहां मनु आसव के अतिरेक में लुढ़का पड़ा था।

"मनु!" उसने उसे थोड़ी देर झंझोड़ा।

"क्या है?" वह बुदबुदाया।

"रथ तैयार है। रात्रि हो गई है। तुम जाओ।"

"नहीं, आज मैं नहीं जाऊंगा वासवदत्ता! अतृप्ति में

दहक रहा हूं। अमात्य-पुत्र को ऐसी अतृप्ति में जाने के लिए मत कहो।"

"मैं शयन-कक्ष में जाती हूं। तुम यहीं···।"

मनु ने वासवदत्ता का हाथ पकड़ लिया। कहा, "यह अत्याचार है। इसकी प्रतिक्रिया असन्तोष को जन्म देगी और असन्तोष कभी-कभी प्राणी को अपराध की ओर भी अग्रसर कर देता है।"

"मैं विवश हूं।" कहकर वासवदत्ता केलि-कक्ष से बाहर निकल गई और असन्तोष की अग्नि में दहकता हुआ मनु आसव पान करता रहा और वह पीते-पीते कब अचेत हो गया, यह वह स्वयं नहीं जान सका!

प्रतीची के प्रांगण में तिमिर का सम्पूर्ण पराभव हो चुका था और प्राची में प्रकाश का उद्‌भव। प्रभात की स्वास्थ्य-वर्धक समीरण मन्द-मन्द गति से प्रवाहित होने लगी थी।

गगन-मण्डल में प्रात: आगमन का सन्देश सुनाने के लिए पक्षी उड़ रहे थे।

नगर-वीथियों से व्यापारियों का आगमन हो रहा था।

धीरे-धीरे हलका-हलका कोलाहल धरती से उठकर नभ की ओर बढ़ रहा था।

नगर की सुप्रसिद्ध नर्तकी-गणिका वासवदत्ता के दर्शनीय भवन के सम्मुख से एक अत्यन्त सज्जित रथ ने प्रस्थान किया। उसमें नगर का सामन्त-पुत्र मनु विराजमान था। उसकी पलकें अभी भी उनींदी थीं। तन के वस्त्र अस्त-व्यस्त थे, जिससे सहज ही इस बात का अनुमान लगाया जा सकता था कि मनु आज सदैव से तनिक समय-पूर्व प्रस्थान कर रहा है, श्रेष्ठ नगर की नागर नर्तकी के गृह से, क्योंकि वे प्राय: सज्जित होकर ही यहां से प्रस्थान किया करते थे।

मनु वासवदत्ता पर आसक्त था। उस पर सर्वस्व विसर्जन करने के लिए तत्पर था। आज से नहीं, पूरा एक वर्ष व्यतीत हो रहा था, जब मनु ने वासवदत्ता को एक राजकीय उत्सव में नृत्य करते देखा था।

कितनी सलोनी व आकर्षक थी वासवदत्ता !

मनु उसे देखकर मुग्ध हो गया था, प्रथम दर्शन पर ही मोहित हो गया था; पर तत्काल हृदय के समस्त उद्वेगों का शोषण कर शान्त बैठा रहा।

अन्तर में घोर अशान्ति थी और नयनों में आन्तरिक आकुलता।

मनु उत्कंठा से चाह रहा था कि नर्तकी उसे एक बार देखे, बस एक बार, केवल एक बार।

वह यौवनोन्मुखी नर्तकी केवल नृत्य कर रही थी, संगीत की मधुर स्वर लहरी पर, वाद्ययंत्रों के निर्देशन पर।

उस उपेक्षा से मनु तड़प उठा। अपने-आप से कह बैठा, 'दंभी !' एकदम दंभी निकली वासवदत्ता। क्या करता मनु ?

सौंदर्य, माधुर्य और चातुर्य की प्रतिमूर्ति वासवदत्ता कैसे चुम्बक के सदृश अपनी ओर आकर्षित करती जा रही थी !

लाचार हो उसने खांसा। सोचा, इस अशिष्टता के कारण वासवदत्ता उसे अवश्य देखेगी, चाहे सरोष ही; पर पाषाण-हृदया नायिका ने इस बार भी मनु पर दृष्टिपात नहीं किया।

फिर मनु झुंझला उठा, "निर्मोही !"

पर वासवदत्ता अपनी ही तन्मयता में झूम रही थी, घुंघरू की झनकार पर। सामन्त-पुत्र की आकुलता बढ़ती ही गई।

कार्यक्रम निश्चित समय पर समाप्त हो गया। नृत्य रुका तालीवादन हुआ। मधुर कल्पनाओं व उधेड़बुनों में खोया जन-समूह चौंककर कह उठा, "सुन्दर ! अति सुन्दर ! !"

और देखते-देखते उपहारों के ढेर लग गए, नर्तकी के चरणों

पर, जैसे लक्ष्मी सौंदर्य के चरणों में पड़कर अपने को सौभाग्य-शाली मानती है।

मनु विवेक-विस्मृत-सा वासवदत्ता की ओर उन्मुख हुआ! वासवदत्ता ने अपनी ओर आते हुए मनु को अर्थ-भरी दृष्टि से देखा, पूर्ण यौवन, सुन्दर, आकर्षक।

वासवदत्ता अनिमेष दृष्टि से देखती रही, उस युवक को और युवक भी चाह-भरी दृष्टि से देख रहा था उसे।

समस्त दर्शकगण इस नाट्य-दृश्य को मौन होकर देख रहे थे।

संगीत-शास्त्री अबोध बालक की भांति उस युवक को वासवदत्ता के सन्निकट देखने लगे और वासवदत्ता भी उस युवक का इतने बड़े जनसमूह के समक्ष सामीप्य पाकर प्रस्तर-प्रतिमा की भांति जड़वत् हो गई।

मनु ने अस्फुट स्वर में कहा, "धन्यवाद!" उसका मुंह वासवदत्ता के कपोल के निकट हो गया था, "श्रेष्ठ सुन्दरी! अनुपम नृत्य करने और मधुर गीत गाने के लिए तुम्हें कोटिशः बधाइयां!" और उसने वासवदत्ता का कोमल कर अपने कर में लेकर उसकी अंगुली में एक अत्यन्त अमूल्य मुद्रा पहना दी। एक क्षण पश्चात् सारे मण्डप में हलचल मच गई।

वासवदत्ता स्वयं संकोच में गड़ी जा रही थी और नगर का सामन्त-पुत्र मनु उससे हठात् विलग होकर उत्सव-मण्डप से बाहर आकर अपने रथ पर आरूढ़ हो गया।

रथ चल पड़ा। यह था उन दोनों का प्रथम मिलन। नगर के सामन्त-पुत्र मनु का नगर की प्रसिद्ध गणिका वासवदत्ता से।

सांध्य-प्रदीप नगर के समस्त गृहों में प्रज्वलित हो चुके थे। शांत होता हुआ कोलाहल अस्त होते सूरज की भांति एक बार

सतेज होकर कर्ण-कुहरों को अप्रिय-सा लगने लगा था। कुछ प्रवासी व्यवसायी गाड़ियों पर माल लादे अपने-अपने लोक-गीत गुनगुनाते जा रहे थे। काम से निवृत्त नगर का तरुण वर्ग उद्यानों एवं भ्रमणीय-रमणीय स्थानों की ओर प्रस्थान कर रहा था।

मनु ज्योंही नूतन वस्त्र पहनकर गृह से भ्रमणार्थ बाहर जाने के लिए उद्यत हुआ, त्योंही उसकी युवा पत्नी गृहलक्ष्मी ने विनयपूर्वक कहा, "स्वामी ! आज सांध्य-वेला बिना भोजन किए बाहर जाने का कारण ?"

"सुमुखि ! विशेष कारण नहीं। आज तनिक मन उन्मन है, अतः बिना भोजन किए ही बाहर जा रहा हूं, शायद आज रात खाऊंगा भी नहीं।" एक अनिश्चितता थी मनु के स्वर में और वह तुरन्त गृह से बाहर चला गया। गृहलक्ष्मी उसे शंका-भरी दृष्टि से देखती रही।

एक पल ही बीता था कि सारथी ने आकर नतमस्तक होकर कहा, "स्वामी ने कहलाया है कि आज उनका किसी मित्र के यहां जाने का कार्यक्रम है, इसलिए वे रात को लौटेंगे भी नहीं।"

गृहलक्ष्मी ने विनयपूर्वक कहा, "मेरी ओर से आग्रह के साथ कहना कि रात को गृहस्थ का घर से बाहर रहना श्रेयस्कर नहीं होता है, फिर भी श्रीमन्त की अपनी इच्छा।"

सारथी उत्तर सुनकर चला गया। रथ ने हौले-हौले प्रस्थान किया।

गृहलक्ष्मी ने आकर अपनी परिचारिका देविका को पुकारा।

देविका मनु की क्रीत दासी थी। आज से नहीं, जब वह आठ साल की थी, तो मनु ने उसे क्रय किया था। तब वह अपने पिता से बिछुड़ रही थी, सिसक-सिसक रोई थी; पर आज तो उसके अंग-प्रत्यंग में यौवन टपक रहा था। तरुणाई की अरुणाई

उसके कपोलों पर दीप्त हो गई थी। उसकी प्रत्येक गति में एक अपना अनोखापन था। गृह-स्वामिनी के पुकारने का स्वर सुनकर वह भागी-भागी आई। पूछ बैठी, "क्या है ?"

"आज तुम्हारे स्वामी रात को विलम्ब से आएंगे। न आने की भी सम्भावना है।" स्वर में गहरी निराशा थी।

"ऐसा कभी हो सकता है ?" देविका ने अविश्वास प्रकट किया।

"हुआ तो नहीं, पर होने के लक्षण दिखाई दे रहे हैं, क्योंकि मेरे हृदय में संदेह के अंकुर उगे जा रहे हैं।"

"नारी जाति का हृदय ही संदेहमय होता है। आप तो एक साधारण नारी हैं। स्वामिनी ! बड़ी-बड़ी महासतियां और महादेवियां भी शंका-संदेह से नहीं बची हैं।"

"आज उनका मन भी अशांत था।" गृहलक्ष्मी ने फिर कहा।

"हो सकता था।···पुरुष जाति हैं, संसार की अनेक चिन्ताएं लगी रहती हैं। वाणिज्य की, समाज की, धर्म की, देश की; पर आप व्यर्थ ही चिन्तित होती हैं। मैं कहती हूं, वह रात को आएंगे और अवश्य आएंगे।" कहकर देविका तीर की भांति चली गई। गृहलक्ष्मी उस ओर देखती रही, विचारती रही और अन्त में शनैः-शनैः चरण उठाती शृंगार-कक्ष की ओर चल पड़ी।

अपने पति की तनिक उपेक्षा से गृहलक्ष्मी आज अत्यन्त शंकाकुल हो उठी। बार-बार वह 'जनसम-दर्पण' के सम्मुख जाकर अपनी रूपछटा को निहारती थी, उस पर किंचित् विवेचना करती, फिर अपने मन से अपने मन की बातें कहने लगी, 'विधाता की इस कृति में किसी प्रकार का अभाव नहीं, फिर भी आराध्यदेव की अप्रत्याशित-सी उपेक्षा···ऐसा क्यों ?' उसने अपनी ओर गर्व से निहारा।

चन्द पलों के उपरान्त वह तुरन्त शृंगार करने बैठ गई।

आज उसने शृंगार में देविका का भी सम्बल लेना उचित नहीं समझा। वह स्वयं बड़ी चतुराई से अपना शृंगार कर रही थी, जैसे आज के इस शृंगार में एक रहस्यमय सार निहित है। शीश से लेकर नख तक उसने बेजोड़ शृंगार किया।

उस अनुपम रूप में वह नव परिणीता-सी लगने लगी। अपने पति को अपने यौवन पर विमोहित करने के लिए उसने अपनी कंचुकी को और कस लिया। एक बार उसने पुनः दर्पण में देखा। यौवन स्वयं बोलने लगा था।

मानिनी कामिनी की भांति वह संभल-संभलकर चरण उठाती शयनकक्ष के द्वार पर खड़ी होकर मनु की प्रतीक्षा करने लगी।

रजनी रानी तारों की चुनरी ओढ़े अपने मुख-चंद्र को घन-घूंघट में छिपाने की क्रीड़ा कर रही थी। वातावरण शून्य और शान्त होता जा रहा था।

पुतलियों पर पलक-रूपी आवरण बरबस छाता जा रहा था। कभी-कभी वह निमिष-भर के लिए सो भी जाती थी; लेकिन सुप्तावस्था में ऐसे चौंक पड़ती थी, जैसे उसकी सुखद निद्रा में किसी निर्दयी ने जोर का आघात कर दिया हो।

रात्रि वेला में वह उठी और प्रकोष्ठ में चहलकदमी करने लगी। रह-रहकर उसके मानस-पटल पर मनु की अलौकिक छवि नाच उठती थी।

और मनु···? गृह से प्रस्थान करने के पश्चात् उसका रथ सीधा नर्तकी के विशाल भवन के समक्ष रुका।

नर्तकी वासवदत्ता वातायन में बैठी-बैठी राज-पथ का आवागमन देख रही थी। आज उसने पुष्प-शृंगार कर रखा था। रथ के रुकने के क्रम को देखकर उसने परिचारिका को आज्ञा दी कि वह सामन्त श्री को सम्मान सहित भीतर ले आए

और स्वयं तोरण-द्वार की ओर उन्मुख हुई, उनके स्वागत हेतु।

मनु ने प्रवेश करते ही भव्य भवन की सजावट को देखा और तत्पश्चात् रूपागार वासवदत्ता को। वह मनु के समक्ष संकोच से गड़ी जा रही थी।

दोनों एक-दूसरे को कुछ क्षण देखते रहे, अप्रतिभ-से, विमोहित से।

वासवदत्ता को प्रतीत हुआ कि उसके समक्ष स्वयं 'काम' खड़ा है, रति-पति अनंग—सुडौल, सुन्दर और सलोना। न जाने क्यों वासवदत्ता की पलकें धरती की ओर झुक गईं। प्रणाम के लिए कर आवद्ध हो गए। संकेत भीतर प्रवेश करने का हुआ। मनु यंत्रवत् भीतर प्रविष्ट हुआ। गद्दे पर आसीन होते हुए मनु ने मौन भंग किया, "पहचानती हो श्रेष्ठ गणिके हमें ?"

"जी श्रीमन्त ! राजकीय उत्सव में यह मुद्रा आपने ही पहनाई थी।" उसका संकेत अंगुली की ओर था।

"यह भी जानती हो कि हमने यह मुद्रा तुम्हें क्यों पहनाई थी ?" मनु की आंखों में एक परिचित प्रश्न और उसका उत्तर दोनों थे, तो भी वासवदत्ता के मुखारविंद से सुनने हेतु उसने ऐसा पूछा।

"रूप पर आसक्ति।" थोड़ा कहकर वासवदत्ता मनु के समीप बैठ गई। मनु ने टेढ़ी भौंहें करके वासवदत्ता को देखा। वासवदत्ता अपने हाथ की हस्त-रेखा को ध्यानमग्न-सी देख रही थी।

"आसक्ति क्यों कहती हो ? क्या प्रेम नहीं ?"

"प्रेम का प्रादुर्भाव इतना सहज नहीं है श्रीमन्त !···और आसक्ति तो आकर्षण का प्रथम चरण है। आपने मुझे समारोह में एक दृष्टि-भर देखा और उस पर आपने अपना कौटुम्बिक गौरव विस्मृत करके भरी सभा में यह मुद्रा पहनाई।···मैं पूछती हूं कि आपने ऐसा क्यों किया ?" एक आग्रह था उसके

चन्द पलों के उपरान्त वह तुरन्त शृंगार करने बैठ गई।

आज उसने शृंगार में देविका का भी सम्बल लेना उचित नहीं समझा। वह स्वयं बड़ी चतुराई से अपना शृंगार कर रही थी, जैसे आज के इस शृंगार में एक रहस्यमय सार निहित है। शीश से लेकर नख तक उसने बेजोड़ शृंगार किया।

उस अनुपम रूप में वह नव परिणीता-सी लगने लगी। अपने पति को अपने यौवन पर विमोहित करने के लिए उसने अपनी कंचुकी को और कस लिया। एक बार उसने पुनः दर्पण में देखा। यौवन स्वयं बोलने लगा था।

मानिनी कामिनी की भांति वह संभल-संभलकर चरण उठाती शयनकक्ष के द्वार पर खड़ी होकर मनु की प्रतीक्षा करने लगी।

रजनी रानी तारों की चुनरी ओढ़े अपने मुख-चंद्र को घन-घूंघट में छिपाने की क्रीड़ा कर रही थी। वातावरण शून्य और शान्त होता जा रहा था।

पुतलियों पर पलक-रूपी आवरण बरबस छाता जा रहा था। कभी-कभी वह निमिष-भर के लिए सो भी जाती थी; लेकिन सुप्तावस्था में ऐसे चौंक पड़ती थी, जैसे उसकी सुखद निद्रा में किसी निर्दयी ने जोर का आघात कर दिया हो।

रात्रि वेला में वह उठी और प्रकोष्ठ में चहलकदमी करने लगी। रह-रहकर उसके मानस-पटल पर मनु की अलौकिक छवि नाच उठती थी।

और मनु···? गृह से प्रस्थान करने के पश्चात् उसका रथ सीधा नर्तकी के विशाल भवन के समक्ष रुका।

नर्तकी वासवदत्ता वातायन में बैठी-बैठी राज-पथ का आवागमन देख रही थी। आज उसने पुष्प-शृंगार कर रखा था। रथ के रुकने के क्रम को देखकर उसने परिचारिका को आज्ञा दी कि वह सामन्त श्री को सम्मान सहित भीतर ले आए

तन से मनु के कर का स्पर्श हुआ। मनु का मन विचलित हो गया। हठात् उसने वासवदत्ता को अपनी ओर खींच लिया। वासवदत्ता भयभीत-सी स्थिर नयनों से देखने लगी।

मनु के हृदय में मची हुई घोर अशान्ति से वह भली भांति परिचित थी। वह अच्छी तरह जानती थी कि यहां पर आने वाला प्रत्येक प्राणी सर्वप्रथम इसी भांति प्रेमाभिनय करता है और वासना की तृप्ति के अनन्वर उसके दर्शन दुर्लभ हो जाते हैं। अतः अपने को संभालती तथा मनु को सचेत करती हुई वह बोली, "मर्यादा का उल्लंघन अच्छा नहीं है श्रीमन्त ! मैं,आपके लिए अभी नृत्य कर सकती हूं, केवल नृत्य।"

"नहीं रूपसी !" मनु की विकल आंखों में मनुष्य की दुर्बलता जाग पड़ी, "मैं तुम्हें मुंहमांगा धन दूंगा।"

"एक ही वार; लेकिन एक वार में इस पापी पेट की क्षुधा क्या शांत हो सकती है ?" वासवदत्ता की वाणी में ज्वाला-सी तपिश थी।

"मैं तुम्हें प्यार करता हूं।"

"इतना शीघ्र धन से सौदा करनें वाले प्यार नहीं कर सकते। यदि वे ऐसा कहते हैं, तो मिथ्या कहवे हैं।...श्रीमन्त ! धन 'मन पर विजय नहीं कर सकता।' उसके लिए कुछ तो चाहिए ?"

"कुछ क्यों ?...आज्ञा करो रूपसी ! तुम्हारी प्रत्येक अभिलापा निमिप-भर में पूर्ण कर देता हूं। आज्ञा करो ?"

मनु की विकलता वढ़ती ही जा रही थी। वासना की घनीभूत छाया वसाए उसके चक्षु नर्तकी से कुछ मांग रहे थे।

"आज्ञा का पालन करेंगे सामन्त-पुत्र !"

"सन्देह करना तुम्हारा अपराध है और मेरा अपमान।"

"आप मुझे वचन देंगे ?"

"दिया।"

स्वर में।

"प्रेमवश।" छोटा-सा उत्तर दिया मनु ने।

"आप जैसे भद्रजन के लिए मिथ्या भाषण शोभनीय नहीं लगता। श्रीमन्त ! कविवर राहुल ने कहा है, 'प्रेम वही है, जो निर्द्वन्द्व, निष्काम, निर्विकार और निर्विषय हो और आप मेरे यहां हृदय में उठते झंझा की तृप्ति के लिए नहीं आए हैं ?··· सच बताइए कि आप मेरे इस अनुपम सौंदर्य की जीवन-भर अर्चना करेंगे ?···कदापि नहीं।'" वासवदत्ता की वाणी में दृढ़ता के साथ-साथ गम्भीरता का भी समावेश हो गया।

मनु कुछ विचलित हुआ। वार्ता तूल न पकड़ पाए इस वास्ते विषय को परिवर्तित करता हुआ मनु बोला, "रूपसी !"

"रूपसी !" चौंक पड़ी वासवदत्ता।

"हां, मैं तुम्हें भिन्न-भिन्न नामों से पुकारना चाहता हूं। इससे मुझे आनन्द की अनुभूति होती है।"

"नगर के प्रतिष्ठित सामन्तों, श्रेष्ठिपुत्रों व अमात्यों को आनन्दित करना मेरा धर्म है।" स्पर्श किया वासवदत्ता ने।

मनु रोमांचित हो उठा। अपनी कम्पनमयी वाणी पर तनिक आधिपत्य जमाता हुआ मनु बोला, "रात व्यतीत हो रही है गणिके ! अपने धर्म का पालन करो !"

"इस सेविका को स्मरण है। प्रारब्धवश जिस दशा में हूं, उसी दशा के धर्म का मैं पूर्ण रूप से पालन करने को तैयार हूं। आज्ञा दीजिए श्रीमन्त !" वासवदत्ता नत मस्तक हो गई।

"मैं आसव चाहता हूं !" मनु ने समीप पड़े सुरा की ओर संकेत करके कहा, "एक चषक भरकर दो, कोई मनोहारी नृत्य दिखाओ। ऐसा नृत्य, जो मेरे हृदय-कुसुम को विकसित कर दे।"

वासवदत्ता ने मुसकान के साथ आसव-चषक मनु के कर थमा दिया। पल-भर के लिए वह मनु के सन्निकट बैठी। उस

तन से मनु के कर का स्पर्श हुआ। मनु का मन विचलित हो गया। हठात् उसने वासवदत्ता को अपनी ओर खींच लिया। वासवदत्ता भयभीत-सी स्थिर नयनों से देखने लगी।

मनु के हृदय में मची हुई घोर अशान्ति से वह भली भांति परिचित थी। वह अच्छी तरह जानती थी कि यहां पर आने वाला प्रत्येक प्राणी सर्वप्रथम इसी भांति प्रेमाभिनय करता है और वासना की तृप्ति के अनन्तर उसके दर्शन दुर्लभ हो जाते हैं। अतः अपने को संभालती तथा मनु को सचेत करती हुई वह बोली, "मर्यादा का उल्लंघन अच्छा नहीं है श्रीमन्त ! मैं आपके लिए अभी नृत्य कर सकती हूं, केवल नृत्य।"

"नहीं रूपसी !" मनु की विकल आंखों में मनुष्य की दुर्बलता जाग पड़ी, "मैं तुम्हें मुंहमांगा धन दूंगा।"

"एक ही बार; लेकिन एक बार में इस पापी पेट की क्षुधा क्या शांत हो सकती है ?" वासवदत्ता की वाणी में ज्वाला-सी तपिश थी।

"मैं तुम्हें प्यार करता हूं।"

"इतना शीघ्र धन से सौदा करने वाले प्यार नहीं कर सकते। यदि वे ऐसा कहते हैं, तो मिथ्या कहते हैं।...श्रीमन्त ! धन 'मन पर विजय नहीं कर सकता।' उसके लिए कुछ तो चाहिए ?"

"कुछ क्यों ?...आज्ञा करो रूपसी ! तुम्हारी प्रत्येक अभिलाषा निमिष-भर में पूर्ण कर देता हूं। आज्ञा करो ?"

मनु की विकलता बढ़ती ही जा रही थी। वासना की घनीभूत छाया बसाए उसके चक्षु नर्तकी से कुछ मांग रहे थे।

"आज्ञा का पालन करेंगे सामन्त-पुत्र !"

"सन्देह करना तुम्हारा अपराध है और मेरा अपमान।"

"आप मुझे वचन देंगे ?"

"दिया।"

"श्रीमन्त ! आप इसी पल यहां से चले जाइए। मैं एकान्त-वास चाहती हूं।" वासवदत्ता ने आज्ञा दी।

मनु के पांवों के नीचे की धरती खिसक गई। नयन औसतन आकार से और बड़े हो उठे। पुतलियां नितांत स्थिर हो गईं।

मनु अपने-आप ही कह उठा, "कितनी असह्य आज्ञा है !" इस आज्ञा से मनु की भावनाओं पर आघात लगा। पीड़ा से तिलमिलाते रुग्ण व्यक्ति की भांति उसने बोलने के लिए अपनी जिह्वा को खोलना चाहा; पर वासवदत्ता ने अपना बायां हाथ फैलाकर कहा, "श्रीमन्त ! वचनबद्ध हैं आप ?"

"हमें अपनी प्रतिज्ञा स्मरण है।"

"मैं भी यही आशा रखती हूं।"

मनु तुरन्त बाहर जाने लगा। वह दो डग चला ही था कि पुनः लौटकर आया और अपना 'गल-हार' वासवदत्ता को पहना दिया।

रथ पुनः जिस ओर से आया था, उसी ओर चला।

राजपथ पर घोर अंधेरा था और उस अंधेरे में अवश मन लिए मनु समुद्र की लहरों के सदृश कितने ही संकल्प-विकल्प लिए अपने गृह की ओर प्रस्थान कर रहा था। एकदम हताश और एकदम विक्षुब्ध।

रथ मनु के गृह द्वार पर रुका। प्रहरी ने अभिवादन के साथ द्वार खोला। मनु शंकाकुल प्रविष्ट हुआ। सारा वातावरण मौन था; सौरभ से महक रहा था। शयन-कक्ष में अभी भी प्रकाश जगमगा रहा था।

मनु उसी ओर चल पड़ा। कक्ष के प्रकोष्ठ में गृहलक्ष्मी अशांति में चहलकदमी कर रही थी। मनु की पद-चाप सुनकर वह भावातिरेक में उसके चरणों में जा गिरी। नयनों से अश्रु

स्राव होने लगा। उसके अन्तर में मार्मिक वेदना थी, ऐसा उसकी आकृति से लग रहा था।

गृहलक्ष्मी को अपने दोनों हाथों से उठाते हुए मनु ने पूछा, "क्या बात है कल्याणी !"

"मैंने पाप कर लिया है मेरे प्रभु !" अनुनय के साथ गृहलक्ष्मी ने कहा, "पाप भी ऐसा, जो सबसे हेय समझा गया है, मनसा !"

"मैं समझा नहीं कल्याणी, स्पष्ट कहो।" मनु ने उसे सांत्वना दी।

"मैंने आप पर सन्देह किया था।"

"मुझ पर ?" विस्मय से पूछा मनु ने।

"हां, आपके चरित्र पर।"

"मेरे चरित्र पर ! क्यों, किसलिए कल्याणी ?"

"सत्य कथन पाप का प्रायश्चित माना गया है।" उसने कुछ रुककर कहा, "मैंने आपके प्रस्थान करने के पश्चात् इस बात का अनुमान लगाया कि आप गणिका के यहां गए हैं, क्योंकि आप उस पर आसक्त···।"

बीच में ही बात को काटता हुआ मनु संयत स्वर से बोला, "संदेह सही है प्रिय ! आज मैं गणिका के यहां ही गया था। नगर की श्रेष्ठ गणिका वासवदत्ता के यहां।"

"नाथ !" तड़प उठी गृहलक्ष्मी। उसे रोष आया अपने पति पर, समस्त पुरुष जाति पर। सोचने लगी, 'कैसे छली हैं ये पुरुष ! प्रपंची, हृदयहीन और पाषाण !'

"यह क्यों ?" गृहलक्ष्मी ने प्रकट होकर हठात् पूछा।

"मेरी इच्छा !" हठात् उत्तर दिया मनु ने।

"और मेरा अधिकार ?"

"धार्मिक गठबन्धनों के अधीन है। स्त्री केवल आज्ञाकारिणी होती है। उसके अधिकारों की एक परिधि होती है

परिधि के बाहर उसका कोई अस्तित्व नहीं, कोई गणना नहीं।" मनु रुखाई से बोला।

"पर यह पथ पतनोन्मुखी है। धर्माचरण विरुद्ध है।"

"मैं जानता हूं। मुझे समझाने की कोई आवश्यकता नहीं।" मनु ने रुककर तुरन्त कहा, "तुम्हें अत्यधिक अधिकार की लिप्सा दंभित कर रही है···तुम तो गृहलक्ष्मी हो, गृह की शोभा हो, मान-मर्यादा बनकर रहो। पुरुष की स्वतंत्रता को सीमा-बद्ध करने का प्रयत्न न करो। उससे कटुता जरूर बढ़ेगी; पर पाओगी कुछ नहीं।" मनु एक दार्शनिक के स्वर में बोला।

"उपदेश ग्राह्य है; पर मैं भी अपने अन्तराल के भावों को प्रकट करना अपना कर्त्तव्य समझती हूं।" गृहलक्ष्मी और सजग हो गई, "जिसके संग से सत्य, पावनता, करुणा, मौन, विवेक, श्री, संकोच, कीर्ति, क्षमा और सौभाग्य का नाश होता है, ऐसी नारी का संग बुद्धिमानों का काम नहीं।"

"शलभ निठुर लौ की प्रीति से परिचित होकर भी उसके अंक में अपने प्राण उत्सर्ग कर देता है, ऐसा क्यों?"

"अज्ञानवश!"

"मुझे भी तुम ऐसा ही समझ लो।"

"कैसे समझूं? शलभ और मनुष्य का अन्तर दृष्टि से ओझल नहीं किया जा सकता। मनुष्य मेधावी है। उसे भले-बुरे का ज्ञान होता है।"

"उसकी मेधा वातावरण में नवीनता चाहती है। उसका ज्ञान एक नूतन तृष्णा को अपने में समाए रहता है और वह तृष्णा बावरी होती है।"

"जो प्राणी विषय-तृष्णा के अधीन हो उसके संकेत पर नाचता है वह पुरुष मदारी का वानर होता है।"

इस व्यंग्य ने मनु पर गहरा आघात किया। मनु तीव्र स्वर में बोला, "गृहलक्ष्मी! नर और नारी के आवर्तन भिन्न-भिन्न

होते हैं। पुरुषों को, विशेषकर अभिजात वर्ग के पुरुष को भोग-विलास करने का पूर्ण अधिकार है, परम्परागत सत्य है।···तुम पत्नी हो और पत्नी होकर पति को शिक्षा देने का दुस्साहस करना क्या अपराध नहीं ?"

"हो सकता है; लेकिन मैं आपकी पत्नी हूं, सहधर्मिणी हूं, मित्र हूं और सच्चा मित्र वही हो सकता है, जो अपने मित्र के अवगुणों को दर्पण के समान यथार्थ रूप में बता सके और मेरा···?"

"तुम्हारे उपदेश की कोई आवश्यकता नहीं।" झुंझला उठा मनु, "भूल तो मैंने की कि तुम्हें सच-सच बता दिया। मैं तुम्हें एक मिथ्या भ्रम में भी रख सकता था।" पश्चात्तापजनित आवेश में कांप गया मनु।

गृहलक्ष्मी ने थोड़ी देर तक मनु के मुख के भावों को पढ़ा। उसने सोच लिया कि यदि वह मनु की इस बात की कटु सत्य आलोचना-प्रत्यालोचना और करेगी, तो इसका परिणाम अकल्याणकारी होगा। मनु अभिजात वर्ग का लाडला बेटा है, अतः नारी की आत्मा से खेलना परम्परागत बात है। नारी इसके लिए मात्र भोग्या है, वस्तु समान है। अतः उसने परिस्थिति के संग अपने को छोड़ने का निश्चय किया। भविष्य में जो होगा, उसे वह देखेगी, समझेगी। एक पतिव्रता आर्य सती-नारी की भांति।

फिर भी एक दार्शनिक की भांति मनु को सम्बोधित करती हुई वह पुनः बोली, "मन ही मन का बोधक होता है, मन ही मन का साधक होता है, मन ही मन का बाधक होता है, मन ही मन का घातक होता है।···मन को बांधने का प्रयास कीजिए, उसमें ही कल्याण है। मैं तो आपके चरणों की [illegible] मेरा क्या ?"

वह उठी। एक बार उसने अपने सद्यःस्नात हिम-धवल

प्रभापुंज सम गात को देखा, उत्पल के सदृश दीर्घ कजरारे नयनों को निरखा, अतृप्त अधरों पर आशंका की शुष्कता को पहचाना और धीरे से चरण उठाती अपनी सुख-शय्या की ओर बढ़ गई। मनु एक असंतोष लिए उसे देखता रहा। वह अन्तर्ज्वाला में जल रहा था।

प्रेम ! जीवन की महानतम निधि, जिसे प्राप्त करके प्राणी आंतरिक सुख पाता है।

तत्त्वज्ञानियों, संतों व अनेकानेक महान् पुरुषों ने प्रेम को सर्वोत्तम स्थान प्रदान किया है। जप, तप और वैराग्य में सुनती हूं, जहां प्रेम से प्रभु-पुकार होती है, वहां ईश्वर को आना ही पड़ता है।

आशावादी प्रेमी कहते हैं, प्रेम में जो तड़पन है, व्यथा है, विकलता है और रोदन है, वे सब प्रगाढ़ प्रीति के भावानुभाव हैं। प्रेम के आंसू वरदान होते हैं।

मनीषियों ने कहा है, प्रेम की स्थिति एक-सी रहती है, उसे प्रतिक्षण अपने प्रिय से मिलने की छटपटाहट होती है। वह सदा अतृप्त ही बना रहता है। प्रिय के सिवा उसे और कोई नहीं भाता।

असफल प्रेमी हृदय को धैर्य देने के लिए उपदेश के रूप में प्रेम की व्याख्या करता है, प्रेम सदा ही सहिष्णु और मधुर होता है। प्रेम ईर्ष्या नहीं करता, आत्मश्लाघा नहीं करता, गर्व नहीं करता, दुष्टाचार नहीं करता, शीघ्र क्रोध नहीं करता, कुछ बुरा नहीं मानता, सदा सुखी रहता है।

राहुल अपनी कविता में कहता है, प्यार की एक भी चिनगारी किसी के हृदय में पड़ जाए, उस हृदय को निहाल समझना चाहिए; /पर यह चिनगारी बड़ी निर्दयी होती है। सरलता से उर में सजग नहीं होती। इसे प्रज्वलित करने के लिए कठोर

साधना की आवश्यकता पड़ती है; महान् त्याग की अनिवार्यता होती है।

प्रेम शब्द तो है एक। व्याख्याएं उतनी जितने मस्तिष्क? अद्‌भुत जंजाल! जटिल समस्या!!

'लेकिन···?' वासवदत्ता ने अपने बिस्तरे पर करवट लेते हुए मन-ही-मन कहा, 'लेकिन मेरा अपना मत है कि प्रेम एक वासना है, ज्वलित वासना, बस।'

इतनी देर तक सोचने के पश्चात् वासवदत्ता अनमनी-सी उठी और राजपथ वाले प्रकोष्ठ में आकर खड़ी हो गई।

रजनी विलास के सागर में तैरती हुई नगरी में अवतरित हो रही थी। राजकीय प्रकाश-स्तम्भ के प्रकाश से पथ आलोकित हो रहा था। उस आलोक में आवागमन करते हुए यात्रियों की आकृतियां स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर हो रही थीं। वासवदत्ता आज आकुलता के साथ किसी की प्रतीक्षा कर रही थी। उसके प्रतीक्षारत बावरे नयन देख रहे थे, दूर, बहुत दूर, बिलकुल दूर। उसे राहुल की बातें स्मरण हो आईं और स्मरण हो आया उससे उसका प्रथम मिलन।

उसी दिन एकाएक उसे अपने प्रहरी का तीव्र स्वर सुनाई पड़ा, "भद्रजन! यहां केवल अभिजात वर्ग ही प्रवेश कर सकता है। जनसाधारण के लिए साधारण गणिकाएं होती हैं। यह तो नगर की प्रतिष्ठामयी नगर-वधू की अट्टालिका है।"

"जानता हूं मैं; लेकिन अभिजात वर्ग की पहचान सुंदर रथ और चमकदार वस्त्र तो नहीं होते हैं? प्रत्येक प्राणी अपने हृदय की विशालता व उदारता से भी महान् होता है।"

"यहां धन का विशेष महत्त्व है। सम्पत्तिहीन प्राणी का यहां सत्कार संभव नहीं।"

"सम्पत्ति!" राहुल दर्प से बोला, "मेरे पास वह सम्पत्ति है, जिसकी समानता तुम्हारे नगर के समस्त श्रेष्ठिपुत्र और

सामंतगण भी नहीं कर सकते, समझे ?"

"दृश्य और श्रव्य में अन्तर होता है।"

"चर्म और कर्म में भी अन्तर होता है।"

"तात्पर्य ?"

"काग-नीड़ में पिक शिशु रहने से वह काग नहीं बनता।"

"अस्वच्छ वस्त्र पहनने से ही मनुष्य की श्रेष्ठता और महत्ता कम नहीं होती !" क्रोध से वक्र दृष्टि करके राहुल सरोष बोला, "जाओ, अपनी अभिमानिनी स्वामिनी से कहो कि कोई ब्राह्मण-पुत्र तुमसे भेंट करना चाहता है।" राहुल आज जान-बूझकर साधारण वेश में आया था।

प्रहरी भीतर गया। आगन्तुक विचारमग्न-सा तोरण-द्वार की सीढ़ी पर चहलकदमी कर रहा था। प्रहरी ने आकर अभि-वादन के संग विनम्रता से कहा, "श्रीमान् ! देवी की आज्ञा है कि आप ससम्मान सम्मुख लाए जाएं। ऐसे योग्य व वाक्पटु युवकों का मैं हार्दिक सम्मान करती हूं।"

आगन्तुक के अधरों पर व्यंग्यात्मक हंसी दौड़ पड़ी, "राज-कीय पद्धति का अनुसरण कर रही है गणिका ! और क्यों न करे ? समय है, समय सब कुछ कराता है।"

"सीढ़ियों को पार करके वह वासवदत्ता के अद्भुत शयना-गार में आया। दोनों की दृष्टि टकराई। अल्पकाल के लिए दोनों निश्चल हो गए। एक-दूसरे के सौंदर्य का रसास्वादन करते रहे, मंत्रमुग्ध-से।

एक पल, दो पल और तीसरे पल वासवदत्ता के होंठ अना-यास ही फड़क उठे, "कितना सुन्दर है !"

"क्या कहा ?" तुरन्त पूछा राहुल ने।

"मैंने ? मैंने कुछ नहीं कहा।"

"तो फिर किसने कहा ?"

"मन ने।"

"क्यों ?"

"मोहित होकर।"

"बड़ा चंचल है ?"

"अवश्य !"

"बड़ा रसिक है ?"

"होना ही चाहिए।"

"बड़ा आसक्त है ?"

"अवश्य !"

"शीघ्र पतनगामी होगा।"

"क्या कहा ?" सावधान होती हुई वासवदत्ता बोली।

"जो मेरे मन ने चाहा, मन पर किसी का अधिकार नहीं होता।" अपनी पीठ को उसकी ओर करते हुए नवागन्तुक तरुण ने कहा। वासवदत्ता उसके चातुर्य पर रीझ गई, युवक अत्यन्त कुशाग्र बुद्धिवाला है।

"तरुण ! आपका शुभ नाम ?"

"तुम जानती नहीं हो ?"

"नहीं।" वासवदत्ता ने विनम्रता से कहा और उसे बैठने का संकेत किया, "आप आसन ग्रहण कीजिए।"

"मेरे विचार से तुम मुझे जानती हो, यदि पहचानने का प्रयास करो, तो जान जाओगी कि मैं कौन हूं ?" तरुण बैठ गया।

"पहेलियां बुझा रहे हैं आप !"

"तुम अपने मन को कष्ट देना नहीं चाहती हो। लोग मुझे कवि राहुल कहते हैं। मैं नगरपति का अपना कवि हूं। जानती नहीं हो कि नगरपति मेरे गीत सुने बिना चैन से नहीं रहते।"

वासवदत्ता के कानों को एक बार विश्वास नहीं हुआ। वह निर्निमेष दृष्टि से राहुल को देखती रही। विह्वल-सी होकर बोली, "आज मेरे भाग्य के समस्त द्वार खुल गए। आज ही मैंने

आपको स्मरण किया था और आज ही आप आ गए, इसलिए आपकी आयु दीर्घ है और मैं भगवान से यही प्रार्थना करूंगी।"

"यह प्रार्थना शुभ नहीं। अधिक जीने वाले अधिक पाप करते हैं, अतः व्यक्ति को उतना ही जीना चाहिए, जितना वह अच्छे आचरण के साथ जी सके।" राहुल के अधरों पर हलका उपहास था।

वासवदत्ता अभी तक उसे चाह-भरी दृष्टि से देख रही थी। राहुल अपनी गम्भीर दृष्टि से सज्जित शयनागार को देख रहा था। एकाएक उसने मौन भंग किया, "मैंने एक गीत की रचना की थी। गीत का शीर्षक था, 'कल्पना की रानी'। कल्पना की रानी का रूप-यौवन स्वर्गीय है। मैं उस कल्पना को साकार रूप-दर्शन के लिए अमुक स्थानों में घूम आया; पर सिवाय निराशा के कुछ भी नहीं मिला। अचानक मैंने तुम्हें एक उत्सव में देखा, जिस उत्सव में तुमको एक सामंत-पुत्र ने स्वर्ण मुद्रिका पहनाई थी। मैं चला आया, सर्वांग सुन्दरी के सौंदर्य को निरखने। अपनी कल्पना का मूर्त रूप देखने।"

"फिर आज्ञा कीजिए।" वासवदत्ता ने ऐसा दृष्टि-संकेत किया कि राहुल रोमांचित हो उठा।

"मेरे समक्ष तुम अपनी सर्वश्रेष्ठ मुद्रा में बैठ जाओ।"

"क्यों?"

"मैं तुम्हारा नश्वर, किंतु अद्वितीय रूप-दर्शन करना चाहता हूं।"

"रूप-दर्शन!" विस्मय से नयन विस्फारित किए वासवदत्ता और एक उल्लास की अंगड़ाई ले बैठी।

"प्रत्यक्ष दर्शन से कल्पना में सत्य आता है। मेरे गीतों में निखार आ जाएगा, श्रोता सुनकर मंत्रमुग्ध हो जाएंगे। रूपसी! यह सम्बल मेरी कविता में प्राणों का संचार कर देगा।" यह थी राहुल की भावुकता।

"मैं तो क्या, समस्त नगरवासी आपकी प्रतिभा का लोहा मानते हैं। सत्यम्-शिवम्-सुन्दरम् की भावना लिए आपकी प्रत्येक कृति जीवन को नूतन प्रेरणा देती है। मैं प्रायः सुना करती हूं, आपकी प्रत्येक कृति में चिन्तन रहता है, मनन रहता है और उनके संग-संग संगीत की हृदयवेधक लय।"

वासवदत्ता यह कहकर राहुल के समीप आकर बैठ गई। राहुल अपनी भूरि-भूरि प्रशंसा सुनकर मानव-दुर्बलता के अधिकार में आ गया। अपनी रचनाओं की स्वयं प्रशंसा करता हुआ बोला, "तुम्हें विदित नहीं होगा कि मेरी कविता 'जीवन-नश्वर' पर आचार्य उपगुप्त ने स्वयं कहा था, 'रचना अत्यन्त उत्कृष्ट है। कवि में प्रतिभा के साथ-साथ सुन्दर अभिव्यक्ति की भी शक्ति है। जीवन का दर्शन सही रूप में चित्रित करने की क्षमता है। कभी मैं उनसे भेंट करूंगा।'"

"यह उपगुप्त कौन हैं?" वासवदत्ता ने झट से पूछा।

"भिक्षु शाणकवासी का परम स्नेह-पात्र शिष्य। गुणी, त्यागी और वक्तृत्व कला के सम्राट्! तुम जानती नहीं हो कि जब वह ओजस्वी वाणी में भाषण देते हैं, तो श्रोता अपने-आप को विस्मृत करके उनके पीछे खिचे चले जाते हैं।" राहुल शय्या पर कुछ सुख से बैठता हुआ अनवरत कहे ही जा रहा था, "मुझे भी उनका भाषण सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। उनकी प्रभावोत्पादक वाणी के समक्ष मेरे गीत शून्य के बराबर हैं।"

"और उनका रूप?" वासवदत्ता की जिज्ञासा बढ़ी।

"रूप!...सूर्य-सा तेजस्वी।"

वह उठती हुई मद्धिम स्वर में बोली, "ब्रह्मा का निर्माण-वैचित्र्य देखकर आश्चर्य करना पड़ता है, अस्तु। कविवर! अब मैं आपकी इच्छा पूर्ति करती हूं। अपनी सर्वश्रेष्ठ-सर्वोत्तम मुद्रा में खड़ी होती हूं, जी भरकर रूप-दर्शन कर लीजिए।"

वासवदत्ता अपने श्रृंगार-कक्ष में गई। अपने रेशमी झीने आंचल को उरोजों पर एक आवर्त देकर कटि प्रदेश पर लहराने के लिए छोड़ दिया। कंचुकी को और कसा। कुन्तलों को तनिक अस्त-व्यस्त करके तनकर खड़ी हो गई, फिर वह वहां से आकर राहुल के समक्ष खड़ी हो गई। मुद्रा कामोत्तेजक थी। राहुल देखता रहा, एकटक।

वासवदत्ता मुसकराती हुई बोली, "कविराज! रूप-दर्शन करते-करते मन का पाप न कर बैठिएगा।"

"मेरे विचार इतने निर्बल नहीं हैं।" राहुल मुसकरा रहा था।

"अग्नि समक्ष कनक अवश्यमेव गलता है, यह चिरंतन सत्य है।"

"मेरे सिद्धान्त किसी को भी चिरन्तन नहीं मानते।"

"सबसे पृथक् हैं आपके सिद्धान्त?"

"विद्वान् स्वयं अपने सिद्धान्तों के निर्माता होते हैं।" राहुल उसे देखता रहा, "अब मैं प्रस्थान करना चाहता हूं। मैंने अपने मन की आशा पूर्ण कर ली।" राहुल उठने लगा।

"इतना शीघ्र पूर्ण कर ली, आश्चर्य है?"

"वार्त्तालाप में समय का ज्ञान नहीं रहता। मुझे आए हुए बहुत काल हो गया है।"

"तनिक और ठहरिए। अभी आपने मेरे रूप का दर्शन किया। अब मैं आपके रूप का दर्शन करूंगी।"

"मेरे रूप का?"

"हां कविराज!" वासवदत्ता मधु-चषक लेने के लिए अग्रसर हुई। परिचारिका ने आकर निवेदन करने के लिए अपने अधरों को खोलना चाहा कि वासवदत्ता ने तुरन्त उसे रोक दिया, "मैं आ रही हूं।"

राहुल इस नाट्य को नहीं समझ सका। कुछ अनुमान

लभाने के प्रयास में था।

बाहर खड़ा था मनु। वासवदत्ता उसे अन्य कक्ष में बैठाकर राहुल के समीप आई। राहुल उस समय विचार-मग्न बैठा था। वासवदत्ता की पदचाप सुनकर बोलना चाहा कि वासवदत्ता दर्प से बोल उठी, "कविराज! अब आप यहां से सहर्ष प्रस्थान कर सकते हैं। मुझे कोई आपत्ति नहीं।"

राहुल ने भेद-भरी दृष्टि से वासवदत्ता को देखा और तोरण-द्वार की ओर बढ़ गया, एक प्रश्न लिए।

आज मनु ने वासवदत्ता के चरणों में स्वर्णमुद्राओं का ढेर लगाते हुए एक नवीन प्रस्ताव रखा, "रूपसी! आज हम जल-विहार करने चलेंगे।"

प्रस्ताव अत्यन्त सुन्दर था। अतः वासवदत्ता ने स्वीकारोक्ति दे दी, "श्रीमन्त! आपकी आज्ञा शिरोधार्य है।"

मनु का अन्तराल वासवदत्ता की स्वीकारोक्ति सुनकर मग्न हो गया। वासवदत्ता का कर स्पर्श करते हुए बोला, "प्रिय! चलो, देर करना अच्छा नहीं है।...आज तुम्हें ही अपनी 'शिविका' पर चढ़ाकर सरिता-कूल तक ले जाना पड़ेगा।"

"क्यों, आपका रथ कहां है?"

"मेरा सारथी आज ज्वर से पीड़ित है और अन्य सारथी मुझे पसन्द नहीं है।"

"कोई बात नहीं, मैं अभी परिचारिका को पुकार वाद्य-वादकों को तैयार होने के लिए कहलाती हूं।'

"क्यों,...वाद्य यंत्रवालों की क्या आवश्यकता है?" किंचित् सहमते हुए मनु ने कहा, "हम एकाकी चलेंगे।"

"एकाकी!" वासवदत्ता ने भय से नयन विस्फारित कर दिए। आशंका में बोली, "मैं एकाकी कैसे चल सकती हूं?"

"भय किस बात का? तुम्हारे ऊपर किया गया अन-

धकार कुछ भी अपराध समान है। तुम्हारी इच्छानुकूल ही मैं प्रत्येक कार्य करूंगा, विपरीत नहीं, ऐसा तुम्हें विश्वास रखना चाहिए।" मनु ने कहा, "आज नभ में प्रमोदमयी शीतल-शुभ्र चांदनी छिटक रही है। हमें शीघ्र चलना चाहिए।"

"लेकिन मैं एकाकी नहीं चल सकती।" उसके स्वर में स्पष्ट अस्वीकृति थी।

"क्यों रूपसी ! मस्तिष्क पर बल देकर विचार करो कि एकाकीपन में कितना आनन्द रहेगा। रात्रि की नीरवता में लोल लहरों पर मृदुल लास करती हुई अपनी तरणी जब हौले-हौले चलेगी, तो हमारी आत्माएं महान् सुख का अनुभव करेंगी।...हम होंगे और हमारे हृदयों की मधुर धड़कनों का मीठा संगीत होगा।...चलोगी न एकाकी ?"

"नहीं, तरणी मंझधार में पहुंच जाए और मैं मधुपान से मदोन्मत्त होकर जल में कूद मरूं तो...?...नहीं-नहीं, मैं ऐसी भयानक विपत्ति नहीं उठा सकती, कदापि नहीं उठा सकती। मनु ! मैं एकाकी नहीं चल सतती।" वासवदत्ता ने अपने मन के अभिप्राय को छिपाते हुए कहा।

वह सामन्तों व श्रेष्ठि-पुत्रों के हृदय में निहित पतित विचार से परिचित थी। वह भली भांति अभिज्ञ थी कि मनु उसे एकान्त में ले जाकर अपनी वासना की तृप्ति करना चाहता है और उस तृप्ति के पश्चात् सन्तोष पाकर उससे सदैव के लिए सम्बन्ध-विच्छेद कर लेगा। यदि उससे सम्बन्ध-विच्छेद हो गया, तो उसे उसकी सम्पत्ति से हाथ धोना पड़ेगा। अतः मनु को जहां तक हो सके अतृप्त रखा जाए। एक असन्तोष की ज्वाला में उसे जलने दिया जाए।

"बिना संगीत सुन्दर नृत्य संभव नहीं और बिना नृत्य भ्रमण की कोई सार्थकता नहीं, अतः उन्हें अपने साथ लेना ही पड़ेगा।" वासवदत्ता ने दृढ़ता के साथ परामर्श दिया।

अभिजात वर्ग-सामन्त वर्ग उसी प्रकार डसता है, जैसे अहि प्राणी के तन को।...ये लोग मानव नहीं, लोलुप श्वान हैं, जो उसके रूप पर आसक्त होकर पूंछ हिलाते हैं और जैसे ही उन्हें अन्य रूप रूपी रोटी मिल जाती है, तो फिर कभी अपनी शक्ल भी नहीं दिखाते।"

वासवदत्ता को बड़बड़ाते देखकर मनु उत्तेजित स्वर में बोला, "मेरे प्रश्न का उत्तर ?"

"श्रीमन्त ! आज मैं लाचार हूं। मेरी मनःस्थिति ठीक नहीं, अतः मैं क्षमा-याचना करती हूं।"

"तो मैं कल आऊं ?" उठते हुए मनु ने पूछा।

"कल नहीं परसों ! थोड़े काल के लिए मैं अपने अशांत मन को शान्ति देना चाहती हूं। मुझे इस अशिष्टता के लिए क्षमा करेंगे।" निकट थी वासवदत्ता। मनु ने उसके उर में अपने प्रति चिराकर्षण अक्षुण्ण करने के तात्पर्य से एक मूल्यवान् आभूषण पहना दिया, "सुन्दरी ! सर्वप्रथम तुम अपने मन को मुदित करो। तुम्हारे आनन्द की वेदना मैं सह नहीं सकता। मैं तुम्हारे अधरों पर मादक मुसकान देखना चाहता हूं।" कहता-कहता मनु प्रकोष्ठ के बाहर हो गया।

वासवदत्ता रो पड़ी, फूट-फूटकर।

गृहलक्ष्मी के शयन-कक्ष में अभी भी दीपक जल रहा था। मनु ने गृहप्रवेश करते ही सर्वप्रथम उसी ओर दृष्टिपात किया। शयन-कक्ष में प्रकाश देखकर उस ओर चल पड़ा। मनु ने द्वार खटखटाया।

एक पल में द्वार खुल गया। मनु ने देखा, गृहलक्ष्मी तीव्रता से पद-रज अपने मस्तक पर लगाकर इस तरह खड़ी हो गई, जैसे कुछ काल पूर्व भयभीत हुई हो, क्योंकि उसके गोरे मुख पर स्वेदकण उभरे हुए थे।

मनु स्वेदकणों की ओर संकेत करके बोला, "प्रिये ! आज यह आकुलता कैसी ?"

"नाथ ! आज मुझे एकान्त में भय लग रहा था।"

"भय क्यों लग रहा था ?"

"मैं भी नहीं जानती; पर भय अवश्य लग रहा था।" कुछ पल मौन रहकर बोली, "नाथ ! मुझे एकाकी छोड़कर मत जाया करो।"

"नहीं जाऊंगा, अब मैं तुम्हें छोड़कर कहीं भी नहीं जाऊंगा।"

"हां, नाथ ! आज मुझे सिंह का यह चित्र भी भयभीत कर रहा था।" उसका संकेत एक भित्तिचित्र की ओर था।

"जब भय मस्तिष्क पर छा जाता है, तो ऐसी ही अनुभूति होती है; लेकिन अब आकुल होने की आवश्यकता नहीं। आओ, हम दोनों विश्राम करें।" गृहलक्ष्मी का कोमल कर मनु ने अपने हाथों में ले लिया और दोनों एक ही शय्या पर बैठ गए।

मनु ने कटाक्ष करके गृहलक्ष्मी से कहा, "आज तुम्हारा सौन्दर्य शृंगार के कारण अद्‌भुत छटा पा रहा है।"

"सौन्दर्य नहीं, आज आपके ये लोचन मेरे रूप को प्रेम की दृष्टि से देख रहे हैं। प्रेम सौन्दर्य को सत्य की भांति प्यार करता है।" गृहलक्ष्मी मनु के तनिक निकट आई।

अतृप्ति के वशीभूत होने के कारण वह तत्परता से बोला, "मैंने तुम्हारे हृदय-कमल पर अनैतिक प्रहार किया है, उसके लिए तुम मुझे क्षमा करोगी।"

"आर्य ललनाएं पति को क्षमा नहीं करतीं। यदि वे अपने पथ-विस्मृत पति को पथ-निर्देशन करने में समर्थ हो सकती हैं, तो अपने-आप को धन्य मानती हैं।'

गृहलक्ष्मी के शब्दों में शालीनता थी। इधर मनु का मन

जल रहा था। वासवदत्ता द्वारा दो बार ठुकराए जाने के पश्चात् उसका प्रत्येक आवेग शांत होना चाहता था। अतृप्ति जनित असन्तुष्टि उसे वाचाल कर रही थी। उसने नाटकीयता से, केवल अपनी तृप्ति के लिए पत्नी से अत्यन्त प्रेम का प्रदर्शन किया। उसने गृहलक्ष्मी को अपने अंक में भर लिया। गृहलक्ष्मी निर्विरोध रही, जो मनु को अच्छा नहीं लगा। वह चाहता था कि वह भी वासवदत्ता की भांति अभिनय करे, प्रेम नाट्य कर, रोक-थाम कर, कुछ रोप का तो कुछ जोश का प्रदर्शन करे, पर ऐसा करने में गृहलक्ष्मी सर्वथा असमर्थ रही।

उसने नेत्रोन्मीलन कर लिए। मनु का मादक स्पर्श पाकर गृहलक्ष्मी उत्तेजित हो उठी। मनु वासना के मद में इतना चूर हो गया था कि उसे वस्तुस्थिति का ज्ञान तक नहीं रहा। आत्मसमर्पण का महान् दान लेते हुए उसने गृहलक्ष्मी को मधुरता के साथ कहा, "वासवदत्ता ! जीवन की यह साध आज तुमने पूर्ण कर दी। तुम कितनी अच्छी हो वासवदत्ता !"

मनु के बाहुपाश से उन्मुक्त होती हुई गृहलक्ष्मी तड़पकर बोली, "मैं गणिका नहीं, आपकी पत्नी हूं।" मनु का स्वप्न भंग हो गया।

नगरपति की ओर से प्रदत्त राहुल का अपना भव्य कलात्मक भवन था; जिसके चारों ओर एक रमणीय उपवन था। उपवन के परकोटे की प्राचीरों पर मंजुल लतिकाएं छिटक रही थीं। भांति-भांति के पुष्प उपवन में विकसित थे, जिससे समीर सौरभमय हो रहा था।

राहुल इस समय हंसरूपिणी पीठिका पर सुख से बैठा नई रचना लिखने में तन्मय था। उसके चतुर्दिक् प्रकृति की जो अनुपम शोभा थी, वह उसे प्रेरणा दे रही थी।

वह लिख रहा था, "वास्तविक विजयी कौन है ?"

"जो शक्ति से विजयी होता है।"

'नहीं, वास्तविक विजयी वह है, जो अपनी आत्मा पर विजय प्राप्त कर लेता है। आत्मा पर विजय प्राप्त करने वाला ही महान् होता है। दूसरों पर विजय करने वाला मूलतः अपने को पराजित करता है। वीर-से-वीर मनुष्य भी अपनी इच्छाओं के समक्ष पराजित हो जाता है और प्रत्येक विजय के बाद वह नूतन बन्धनों में बंध जाता है। अत. यह निर्विवाद सत्य है कि वास्तविक विजयी वही है, जिसने अपने को जीत लिया है।"

वह इतना लिख ही पाया था कि उसके तोरण-द्वार से रथ के रुकने की ध्वनि आई। राहुल ने उठकर देखा, बाहर वासवदत्ता का रथ खड़ा है और वासवदत्ता उसकी प्रतीक्षा में द्वार की ओर देख रही है।

राहुल तत्परता से रथ की ओर लपका। वासवदत्ता को सम्बोधित करता हुआ बोला, "सुमुखि! क्या आज पथ विस्मृत हो गई हो?"

"नहीं, कविवर! इधर से जा रही थी। सोचा, कविराज के दर्शन करती चलूं।" मादक पराग-से वासवदत्ता के अधर भीगे थे, "आज्ञा है दर्शन की?"

"क्यों नहीं!"

"भय है कि कहीं उस दिन की भांति आप भाषण देना आरम्भ न कर दें। उस दिन तो आपने ऐसा उग्र रूप बना रखा था कि…।"

"कवि हूं न, कवि आधे बावले तो होते ही हैं, आओ।" राहुल उसकी ओर बढ़ा।

वासवदत्ता ने हाथ राहुल की ओर बढ़ाया, "थोड़ा सम्बल दो।"

राहुल ने वासवदत्ता का हाथ पकड़कर रथ से उतार लिया। वासवदत्ता उसके स्पर्श से पुलकित हो गई। कितना कोमल कर

था राहुल का ! सोचकर वासवदत्ता ने अपने हाथ से राहुल के हाथ को दवा दिया। राहुल को इस क्रिया का परिज्ञान था ही। अपने को उसने मुक्त किया, "चलो, भीतर, तुम उपवन का अवलोकन करो, तब तक मैं आतिथ्य सत्कार के लिए सेवक को आज्ञा देता हूं।" राहुल चला गया।

वासवदत्ता के हृदय में विषाद छा गया, हलचल मच गई, उथल-पुथल होने लगी। रह-रहकर उसके विचारों में एक प्रश्न खड़ा होता था, 'जब मैंने राहुल का हाथ दवाया, तो उसने विरोध क्यों नहीं किया ? तो उसे मेरा प्रणय स्वीकार है ?··· अस्वीकार कर भी कैसे सकता है ? मेरा सौन्दर्य पुरुष का पराभव है। नगर का ऐसा कौन व्यक्ति है, जो मुझ पर अपना सर्वस्व अर्पण करने को तत्पर न हो ? मेरी एक चितवन महान् क्रान्ति की द्योतक है।' सोचते-सोचते वासवदत्ता के वासनामय नयनों से अहंकार टपकने लगा। वह जहां खड़ी थी, वहीं खड़ी रही, अटल।

"वासवदत्ता !" राहुल ने पुकारा।

वासवदत्ता ने चौंककर इस तरह राहुल की ओर देखा जैसे वह किसी मोह निद्रा से जगी हो, "क्या कविराज !"

"भोजन के पूर्व कोई आज्ञा ?"

"पूर्ण करेंगे आप ?"

"हां, वासवदत्ता !" राहुल के शब्दों में अनुकम्पा थी, "गृह पर आए अतिथि के स्वागत के लिए राहुल का सर्वस्व तैयार है।" और वासवदत्ता से राहुल की आंखें टकरा गईं। एक पल, दो पल, तीन पल। वह चौंककर बोला, "ओह ! क्षमा करना वासवदत्ता ! मन में आज न जाने इतना भीषण संघर्ष क्यों हो रहा है ?"

राहुल की मनस्थिति संतुलित नहीं रह पा रही थी। एकाकी नर और नारी के होने पर जो दुर्बलताएं जाग्रत् हो

सकती हैं, वे ही उसे दुर्बल बना रही थी। उसकी मनस्थिति का ज्ञान वासवदत्ता को हो गया। उसने आगे बढ़कर राहुल का हाथ पकड़ लिया, "कविराज ! तुमने किसीसे प्रेम किया है, सच बताना ?" उसके स्वर में अगाध अपनत्व था।

"प्रेम ? हां किया है।"

"किससे ?"

"अपनी कविता से ?"

"केवल कविता से तुष्टि नहीं होती। कविता मन की तुष्टि है।" वासवदत्ता समीप बैठ गई। राहुल की दृष्टि उसके मुख की ओर थी। वासवदत्ता की आंखों में सौन्दर्य किलोलें मार रहा था। अद्भुत सुषमा थी उसके आनन पर।

"तुष्टि मन है और जब मनुष्य मन पर अधिकार कर लेता है, तब सन्तोष उसके अंग-प्रत्यंग में समा जाता है।"

"मिथ्या है कवि ! तुम अपनी आत्मा का हनन कर रहे हो, क्योंकि अनुराग बिना विराग नहीं।" उत्तर अकाट्य था।

राहुल वासवदत्ता को देखने लगा, "तुम दर्शन की गुत्थियों में अपने-आप को मत उलझाया करो वासवदत्ता ! तुम्हारा जीवन एक चंचल धारा है, उसमें गम्भीर गति की आवश्यकता नही।"

"मैं तो वह कहती हूं, जो सत्य है और जो सत्य है, वही नित्य है। अतः कवि ! एक बार, एक पल के लिए तुम नारी-संसर्ग करो, उससे प्रेम करो, सच कहती हूं कि तुम निहाल हो जाओगे।"

"वासवदत्ता !" राहुल चीख पड़ा। नारी की यह वाक् नग्नता उसे पसन्द नहीं आई, "तुम मेरे जीवन का महाव्रत भग करना चाहती हो। काम, क्रोध, मोह और माया के चक्र में पड़कर मैं अपनी शान्ति को नहीं त्याग सकता। मेरे जीवन की श्रेष्ठ उपासना है, शान्ति से सृजन।"

"और असृजनात्मकता शान्ति का दूसरा नाम है, जीवित

मृत्यु, अकर्मण्यता, आत्मा का शोषण।...जानते हो कवि ? नारी और नर का सम्बन्ध जन्म-जन्मान्तरों से है और भविष्य में भी रहेगा। जो तुम अभी नारी के प्रति विरक्ति का प्रदर्शन कर रहे हो, वही तो वास्तविक अनुरक्ति है। अपने-आप को भ्रम में रखकर तुम अपने मन के विचारों का क्षणिक हनन कर सकते हो। दैहिक पाप भले ही न करो, मनसा पाप तुम अवश्य करोगे, निस्सन्देह करोगे।"

"मैं इन दोनों पापों से सदा वंचित रहूंगा।" राहुल दृढ़ [।]

"असम्भव ! वासना प्रकृति का वह ज्वालामुखी है जो [ज]ीवन में अवश्य ही अंगारे उगलता है।"

राहुल चित्रवत् उसे देख रहा था।। राहुल अटलता का पर्यायवाची बन गया, नितान्त स्थिर। वासवदत्ता उसे अंगीकार करने के लिए तत्पर हुई कि राहुल ने अपने-आप को मुक्त किया, "वासवदत्ता ! मैंने जीवन के सुख-दुख, उत्थान-पतन, जीवन-मरण और जरा-रोग देख लिए हैं। अब पुनः मुझे इस पतनोन्मुखी पथ पर क्यों ढकेलती हो ?"

"क्योंकि मैं तुम पर आसक्त हूं। तुमसे प्रेम करती हूं।"

"लेकिन मैं...।"

"तुम ! तुम भी मुझसे प्यार करते हो। विश्वास न हो [तो अ]पने अचेतन मन से पूछ लो, अन्तरात्मा से प्रश्न कर लो, स[ही] उत्तर मिल जाएगा।" वासवदत्ता ने तुरन्त अपना मुंह दू[सरी] ओर घुमा लिया।

राहुल ने एक शिष्य की भांति, जो अपने गुरु की आज्ञा पालन करता है, ठीक उसी भांति अपने मन से पूछा ... ने कहा, 'तुम इससे प्यार करते हो, स्वर्ग की अप्सर[ा] अलौकिक सौन्दर्यमयी युवती से कौन प्यार नहीं करता ... प्यार करते हो, तुम्हारी आत्मा का इससे अनुराग है, ...

आंखें इसके दर्शन से तृप्त होती हैं। तुमने अपने चारों ओर आदर्श का एक मायावी जाल बुन रखा है, सिर्फ जाल, समझे !"

"नहीं, वासवदत्ता ! मैं तुमसे प्यार नहीं करता। तुम झूठ बोल रही हो। मैं प्यार करता हूं, तो अपनी कविता से, अपने संकल्पों-विकल्पों से।" राहुल ने हृदय-आवेगों का मार्मिक शोषण किया। वह कांप रहा था। भयभीत था।

यह सुनकर वासवदत्ता को रोष आ गया। नयनों में अंगारे दहकने लगे। भर्त्सना के संग बोली, "तुम भयानक पाप कर रहे हो कवि ! अपनी आत्मा से छल करना सबसे बड़ा पाप है। हृदय की भावना का शोषण करके तुम शान्ति नहीं पा सकते।"

"शायद अब मैं शान्ति से नहीं रह सकूंगा। वासवदत्ता ! तुमने मेरे विचारों में एक घोर कोलाहल मचा दिया है। अब मैं शान्ति से नहीं रह सकूंगा, क्योंकि···।"

"तुम अपने-आप को संभालने में असमर्थ हो राहुल ! एक हृदय का दूसरे हृदय से लगाव होता है। इसे ही तो प्यार कहते हैं। मेरी पद-रज पाकर मेरे चाहने वाले धन्य हो जाते हैं और एक तुम हो, निष्ठुर, निर्दयी, निर्मम !"

"मैं चाहकर भी ऐसा नहीं करूंगा, क्योंकि मेरी भावनाएं वचनबद्ध हैं। आज से पांच वर्ष पूर्व मैंने एक रूपवती युवती से प्रेम किया था। विधि-विडम्बना कहो या भाग्य का चक्र कि वह अकाल ही महाकाल की ओर महाप्रस्थान कर गई। उसने मुझसे वचन लिया था, 'तुम अब किसी से प्रेम नहीं करोगे। प्रेम करोगे तो केवल अपनी कविता से।' मैंने अश्रुपूर्ण नेत्रों से अपनी मरणोन्मुखी प्रेमिका की ओर देखा, 'ऐसा क्यों देवी ?' उसने कहा था, 'तुम मुझे अपनी स्मृति से ओझल कर दोगे। मेरी स्मृति तभी ही अमर रह सकती है, जब तुम अतृप्ति में जलते रहो, विकलते रहो।'"

"तो तुम तृप्ति नहीं चाहते ?" वासवदत्ता ने पूछा।

"मेरी तृप्ति ही मेरी कविता का पराभव है। जो विकलता, ो व्यथा और जो तड़पन मेरी रचनाओं में देख रही हो, वह री आन्तरिक अतृप्ति है और उस अतृप्ति को मैं जीवित रखना ाहता हूं।"

"तुम अपनी प्रेयसी का प्रतिबिम्ब मुझमें नहीं देख सकते ?" वीन सुझाव दिया वासवदत्ता ने।

"नहीं।"

राहुल के यौवन पर आसक्त वासवदत्ता अपनी इस पराजय ा भुजंगिनी की भांति फूत्कार उठी, "इतना अपमान मत करो कवि ! परिताप में अपने-आप को मत जलाओ। मेरा रूप सुधा है। पी लोगे, तो एक सुखद अमरता की प्राप्ति कर लोगे।... और यदि नारी के प्यार को ठुकरा दिया, तो वह प्रतिशोध लेने के लिए पागल हो जाएगी।" वासवदत्ता ने एक चुनौती दी।

राहुल ने धैर्य से कहा, "प्यार और प्रतिशोध दो भिन्न बातें हैं। जहां प्यार है, वहां प्रतिशोध नहीं, जहां प्रतिशोध है, वहां प्यार नहीं। इन दोनों का एक साथ होना कुछ अनहोनी-सा लगता है। तुम बहक रही हो, संभल के चलने का स्वभाव बनाओ, नहीं तो जीवन के बीहड़ पथ पर शीघ्र ही भ्रान्त हो जाओगी।" राहुल की आंखें चमक उठीं। उनमें एक अदम्य साहस झलक उठा। वह भीतर की ओर चलने लगा।

वासवदत्ता का दर्प चीत्कार कर उठा। उसने राहुल को रोका, "तुमने मुझे बहुत सताया है। बड़े निष्ठुर हो, पाषाण हो, अब मुझे सुरा चाहिए। मैं अपने मन की थकान मिटाना चाहती हूं।"

राहुल ने तुरन्त उसे सुरा का प्याला थमा दिया। वासवदत्ता ने उसे अपने अधरों से लगाकर पूछा, "तुम मुझे अंगीकार करोगे या नहीं ?"

"नहीं।" राहुल ने कहा, "मैं वासना को नहीं अपना सकता। आज मुझे प्रतीत हुआ कि तुम्हारा सौन्दर्य अलौकिक नहीं, लौकिक, विपुल वासना-भरा है।"

"रथ तैयार करा दो। अब मैं प्रस्थान करना चाहती हूं।" उसने सुरा को हलक से एक ही सांस में उतार लिया।

राहुल द्वार की ओर चला। वासवदत्ता उसे घृणा से देख रही थी। प्रतिशोध लेने के भाव उसकी आंखों में नाच रहे थे।

अपमान की ज्वाला में दग्ध आज वासवदत्ता ने शृंगार तक नहीं किया। वह बेसुध-सी पड़ी रही। न निशा के आने का ज्ञान और न दिवस के जाने का ध्यान! बस, विचारों में उलझी सुखद शय्या पर पड़ी थी।

केवल क्रोध, केवल तिलमिलाना, केवल अपने-आप को अस्पष्ट भाषा में कहना, क्या कहना, इससे स्वयं अज्ञात।

उसकी जलती हुई आंखें और फड़कते हुए अधर बता रहे थे कि वासवदत्ता अपनी अन्तर्ज्वाला से राहुल को भस्म करना चाहती है, जिसने उसके सौन्दर्य का तिरस्कार किया, उसके यौवन की उपेक्षा की।

कभी-कभी रोष के संघर्ष के केन्द्र उन मतवाले नयनों से दो मोती अनायास छलक पड़ते थे। राहुल की इस उपेक्षा ने उसके विचारों में क्रांति-सी मचा दी थी। उसे यह सोचने के लिए विवश कर दिया था, "सृष्टि के रंगमंच पर सौन्दर्य तृप्ति नहीं, विजय नहीं यदि सौन्दर्य विजयी होता, तो उस दंभी राहुल के हृदय में वह उस विकल वीचि की सर्जना कर देता, जो अपनी तृप्ति के लिए जलविहीन मीन की भांति तड़प उठती, आकुल हो जाती; किन्तु राहुल ने अपने मन की उठती हुई विपुल वासना का हनन करके अपनी दुर्बलता पर विजय पाई।... ऐसा क्यों? यदि सौन्दर्य पुरुष का पराभव है, तो फिर यह उद्भव कैसा?"

वासवदत्ता अपने-आप से ऐसा प्रश्न कर बैठी, 'ऐसा क्यों वासवदत्ता ? क्या राहुल अपने मन के सकल विकारों का दमन करके महान् बन गया है ? महान् बनना इतना सहज नहीं। वह आत्महनन करता है, सिर्फ आत्महनन। अपनी तृष्णाओं का दमन करता है। हां, इतना अवश्य है कि इस वसुन्धरा पर वही एक अनुपम व्यक्ति है, जिसकी वाणी पर वाग्देवी विराजी हुई है। जब वह अपने सुरीले कंठ से कविता-पाठ करता है, तो श्रोता विमुग्ध-से, विमोहित-से निस्पंद बैठे रहते हैं और मैं···?

'मैं तो अपनी समस्त अनुभूतियों से शून्य होकर चकोरीसदृश अनिमेष दृष्टि किए बैठी रहती हूं, जैसे राहुल अपनी वाणी द्वारा सुधा वृष्टि कर रहा हो, मैं उसका पान कर रही हूं।'

वासवदत्ता के विचार उसके मस्तिष्क में ठीक इस भांति उठ रहे थे, जैसे उदधि में लहरें। यदि तत्क्षण दीप-वर्तिका लय होने को न होती, तो आन्तरिक संघर्ष में गतिहीन उसका तन तनिक भी कम्पन नहीं करता।

वह वहीं तब तक बैठी रहती, जब तक कोई आकर उसकी एकाग्रता को भंग नहीं करता। वह उठी। दीपक के समीप गई। वर्तिका को ठीक किया और पुनः पूर्ववत् मुद्रा में गंभीर होकर बैठ गई, 'राहुल गुप्त रूप से अवश्य किसी से प्यार करता होगा? उसके पास रूप है, गुण है, यौवन है, विद्या है, नगरपति द्वारा प्रदत्त प्रतिष्ठा है, फिर क्या उसके प्रेयसी नहीं होगी ? प्रेयसी ! अवश्य कोई मुझसे भी सुन्दर प्रेयसी होगी उसके।' वासवदत्ता डाह में जल उठी। जलकर निमिष-भर के लिए जड़वत् हो गई। एकाएक वह जोर का अट्टहास कर उठी, 'इस अपमान का प्रतिशोध, केवल प्रतिशोध लेना है। मैं प्रतिशोध लूंगी। प्रतिशोध ! केवल प्रतिशोध !!' शब्द उसके मस्तिष्क में प्रतिध्वनि-से ध्वनित हो उठे। समस्या को समाधान मिल गया। यज्ञ को आहुति मिल गई।

स्थिर बैठी हुई वासवदत्ता चंचला-सी द्रुतगति द्वार पर गई। पुकारा, "कोई है ?"

"आज्ञा !" परिचारिक ने आकर कहा।

"प्रहरी से जाकर कहो कि वह श्रीमंत मनु को इसी पल यहां बुला लाए। उन्हें निवेदन करे कि आपकी प्रिया आपके बिना आकुल है।"

परिचारिका भेद-भरी दृष्टि से अपनी स्वामिनी को देखकर बाहर चली गई।•• और वासवदत्ता के नयन उस वीथि की ओर जम गए, जिस ओर से मनु का रथ आने वाला था।

मनु शयन-कक्ष में गृहलक्ष्मी से गृहस्थ-धर्म पर वार्तालाप कर रहा था कि वासवदत्ता के भृत्य ने आकर कहा, "श्रीमंत ! देवी वासवदत्ता ने आपको इसी पल स्मरण किया है।"

"मुझे !" आह्लाद उसके अधरों पर चमक उठा।

"हां, आपको ही।"

'अहोभाग्य !' मनु मन-ही-मन कह उठा, 'आज स्वेच्छा से वासवदत्ता ने मुझे स्मरण किया है? क्या आज सूरज पूर्व की अपेक्षा पश्चिम में उदय हुआ है ?'

अपनी सकल भावनाओं का शोषण करके वह प्रकट रूप में बोला, "प्रहरी ! तुम जाओ, हम अभी आ रहे हैं।" प्रहरी अभिवादन करके चला गया। इधर प्रहरी गृह से बाहर निकला, उधर गृहलक्ष्मी ने मनु को अपनी प्रतिज्ञा का स्मरण दिलाते हुए कहा, "आपने कहा था कि मैं तुम्हें एकाकी नहीं छोड़ूंगा, फिर यह जाने का कैसा निश्चय ?"

"मन चंचल है, इसलिए उसके निश्चय क्षणिक होते हैं। तुम्हें तनिक भी चिन्ता नहीं करनी चाहिए।" मनु ने ऐसे ढंग से कहा, जैसे यह बात अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है।

"चिंता करना अथवा न करना मेरे वस का नहीं; किन्तु

आप अपने वचन सत्य का जो व्यतिक्रम करते जा रहे हैं, कालान्तर में उसका परिणाम जीवन में पावस नहीं, पतझर अवश्य ला सकता है।"

मुसकान के साथ मनु ने गृहलक्ष्मी का कर अपने हाथों में ले लिया। यह पुरुष इस नारी को केवल मधुर बातों से फुसलाना चाहता है। वासवदत्ता के अपमान से आहत होकर जब वह आए, तो इसे पति-परमेश्वर की महत्ता का भान कराके इसके मधुर आंचल में शान्ति पाए। दो जून रोटी के बदले इसके द्वारा अपने शिथिल गात को सहलवाए। बस, इन्हीं स्वार्थों को जीवित रखने हेतु मनु उसकी ठोड़ी पकड़कर बोला, "तुम पत्नी हो न, अत: तुम्हें पति की प्रत्येक गति-विधि में संदेह का आभास होता है; पर सत्य कुछ और ही है। तुम यह जानती हो कि वासव-दत्ता नर्तकी है और नर्तकी के समीप सामन्त एक ही उद्देश्य से जा सकता है, वह है नृत्यावलोकन। वह मेरा मनोरंजन करती है और मैं उसका पारितोषिक सम्पत्ति के रूप में उसे देता हूं।"

बात व्यवसायी थी। उसे अस्वीकार करना अश्रेयस्कर था। मनु क्या, जितने भी उस वर्ग के प्राणी थे वे उन दिनों वैभव-विलास के वारिधि में नारी की भावनाओं से क्रीड़ा करते ही थे।

गृहलक्ष्मी ने प्रतिरोध करना उचित नहीं समझा। प्रतिरोध का परिणाम उसके समक्ष कई बार नग्न होकर आया था। उस नग्नता में मनु की दुष्टता, आतंक, परित्याग का भय सभी समा-विष्ट थे। अत: हृदय के सत्य को हृदय में छिपाती हुई, प्रदर्शन के साथ वह मनु का आलिंगन कर बैठी। उस आलिंगन की कृत्रिम आत्मीयता नयनों में सजलता के रूप में प्रकट हुई, "प्राण-नाथ! नेत्र देखकर तृप्त नहीं होते, कर्ण सुनते नहीं अघाते, अतएव इन दोनों के पीछे मदान्ध बनना नीति-विरुद्ध है और वासनाओं के संकेत पर धावित होने वाले नर अपने आत्म-चैतन्य पर कालिमा का आवरण डाल लेते हैं।"

"वास्तव में तुम विलक्षण हो, अत्यन्त चातुरी से तुमने मुझसे इतने क्षणों तक बातों से बांधे रखा, मुझे वासवदत्ता के ध्यान से विमुख रखा, अतः मैं तुमसे बहुत प्रसन्न हूं। जाओ, अब अपने कार्य में संलग्न हो जाओ। मैं प्रस्थान करता हूं।"

गृहलक्ष्मी ने प्रार्थना की, "शीघ्र लौटने की चिन्ता रखिएगा।"

"जिस पांव जा रहा हूं, उसी पांव लौट आऊंगा।"

बाहर सज्जित रथ खड़ा था। मनु उस पर आसीन होकर चला। रथ चलते ही गृहलक्ष्मी वातायन से उस पथ की ओर निहारने लगी, जिस पथ से मनु जा रहा था।

वासवदत्ता अभी उस वीथि की ओर निहार रही थी, जिस वीथि से मनु का रथ आ रहा था।

मनु के रथ को देखते ही वासवदत्ता अपनी सुध-बुध भूल-कर इस तरह शय्या पर पड़ गई, जैसे आज उसे हार्दिक सम्वेदना हो रही हो। नयनकोर से अश्रु की धार उसके अधरों के छोर को छूती हुई उसके आंचल में विलीन हो रही थी। वस्त्र अस्त-व्यस्त थे। कुन्तल स्नेहहीन और शृंगारहीन थे।

मनु ने ज्योंही कक्ष में प्रवेश किया, वसवदत्ता उसे बिना देखे पेट के बल सो गई। मनु ने अपने दोनों हाथों से वासवदत्ता के कन्धे पकड़ लिए। पूछा, "रूपसी ! क्या बात है ?"

वासवदत्ता पूर्ववत् मौन रही।

"तुम बोलतीं क्यों नहीं ?" झकझोर दिया मनु ने।

निर्विरोध रही वसवदत्ता।

"तुम कुछ बोलोगी या···?" मनु ने वसवदत्ता को झटके से उठाकर अपने सम्मुख किया। उसका चेहरा अश्रुस्राव से भीग गया था। मनु के चेहरे पर भी ग्लानि के संग रोष थिरक उठा,

"कुछ बताओगी या मैं···?"

"मनु !"

"बोलो न ?"

"भय लगता है कि कहीं तुम मेरी आशा पर तुषारापात न कर दो।"

"मनु तुम्हारी आशा को पूर्ण करना अपना सौभाग्य समझेगा। धरती की कोई वस्तु उसके लिए असाध्य नहीं, बोलो तुम क्या चाहती हो ?"

"मैं तुम्हें चाहती हूं, तुम्हें···केवल तुम्हें !"

"मुझे ?" मनु का रोम-रोम बोल उठा।

"तुम्हें, हां मनु ! केवल तुम्हें !···मैं उस दिन की धृष्टता के लिए तुमसे क्षमा-याचना करती हूं।" इतना कह वासवदत्ता ने मनु के कोमल कर का एक क्षीण स्पर्श किया। मनु निहाल हो गया। मन में प्रश्न उठा, 'यह स्वप्न है या सत्य ?···यह स्वप्न है या सत्य ?'

"हां, इन दिनों मुझे तुम्हारे सिवाय कोई भी तनिक रुचिकर नहीं लगता।·· न जाने क्यों ?" वासवदत्ता की दृष्टि वक्र थी।

"कदाचित् तुम्हें हमसे प्रेम ···?"

"हां मनु ! मैं भी यही प्रतीति करती हूं कि मुझे तुमसे प्रेम हो गया है, सच्चा प्रेम।"

"वासवदत्ता ! सौन्दर्य का दंभ करने वाली तुम प्रेम का मूल्यांकन कैसे करती हो, यह मैंने आज जाना। इसके पूर्व मैं इतना जानता था कि धन को धर्म, छल को लक्ष्य समझने वाली नारी हाट की शोभा हो सकती है, मन्दिर की पुजारिन नहीं; पर आज मेरे सम्मुख तुम विरोधाभास के रूप में खड़ी हो। मेरी प्रसन्नता की पराकाष्ठा क्या हो सकती है, कह नहीं सकता।" मनु के चक्षुओं में आनन्द स्फुलिंग की भांति ज्वलित हो उठा।

"स्त्री में हृदय एक होता है और तव यह निर्विरोध मानना ही पड़ता है कि उस हृदय का आराध्यदेव भी एक ही होगा। एकाएक मैं व्यक्ति की नहीं, समाज की वस्तु हूं, नगरवधू हूं।" वासवदत्ता ने गम्भीर प्रश्न किया।

"तुम्हारे कथन की पीड़ा को मैं समझता हूं। युगों से, जब समाज में सभ्यता और संस्कृति का विकास हुआ है, तब से एक स्त्री एक ही पुरुष को अपना हृदय-सम्राट् बनाती आई है। और तुम भी ऐसा करना चाहती हो। विश्वास रखो, मैं तुम्हें आजीवन अपने हृदय की सम्राज्ञी बनाए रखूंगा।" इतना कहकर मनु उसे आलिंगन में लेने हेतु उद्यत हुआ कि वासवदत्ता उससे ऐसे मुक्त हुई, जैसे मनु कोई विषधर हो और वासवदत्ता को डसना चाहता हो।

"ठहरो मनु! पहले मुझे शृंगार करने दो। आज मैंने अपना जीवन-धन पा लिया है। सच कहूं, तो आज मेरी वह साधना सफल हुई, जिसके बीज मैंने आज नहीं, बहुत पहले, इतने पहले कि मुझे स्वयं को स्मरण नहीं, बोए थे।" वासवदत्ता उठी और मनु को देखती-देखती शृंगार-कक्ष की ओर बढ़ गई।

मनु अब एकाकी था। मौन, धीर, संयत। एकाएक उसके अधर कुटिल मुसकान से थिरक उठे, जैसे उसकी भावनाएं विद्रोह करना चाहती हैं, उनमें घोर परिवर्तन आ गया है।

मनु ने मन-ही-मन हंसकर सोचा, 'सृष्टि में आकर मनुष्य को नाना प्रकार के अभिनय करने पड़ते हैं। वासवदत्ता एक प्रेयसी का अभिनय करती है। वह समझती है कि मनु मेरे प्रेमाभिनय में फंस गया है, पर मनु केवल पिपासा की तृप्ति करना चाहता है। अपनी वह अतृप्त पिपासा, जिसकी तृप्ति के लिए उसे वासवदत्ता के रूप का सागर चाहिए।'

वासवदत्ता? नगर की प्रतिष्ठित नर्तकी और प्रेम! वह

भी सच्चा प्रेम ! ! मनु एक विडम्बना की हंसी हंस पड़ा। अपने-आप प्रश्न कर उठा, 'वह मनु को बुद्धू बना रही है। मनु को बुद्धू ?·· पर मनु स्वयं सावधान है। वह सबको पहचानता है। अपने-आप को, वासवदत्ता को।'

पदचाप सुनते ही मनु की विचार शृंखला भंग हुई। उसने द्वार की ओर ताका, स्तम्भित रह गया। सम्मुख खड़ी थी वासवदत्ता। अपनी तर्जनी को अधरों से लगाए। शृंगार-सज्जित अप्रतिम रूप ने मनु को चित्रलिखित बना दिया। मनु मूक रहा। तुरन्त वह वातायन की ओर अक्षि निक्षेप करता हुआ बोला, "प्राण को त्राण लेने दोगी या नहीं ?"

"क्यों ?" वासवदत्ता ने अक्षि निक्षेप किया।

मनु मर्माहत हो उठा। अपने लक्ष्य की ओर उन्मुख हुआ ही था कि वासवदत्ता ने उसे रोका, "मनु !"

"क्या ?"

"जो तुम करने जा रहे हो, क्या वह उचित है ?"

"निस्सन्देह, मैं जो कर रहा हूं, केवल प्रेम-बन्धन को चिरन्तन रखने हेतु कर रहा हूं।"

"पर वासना की लिप्सा प्रेम के पतन का मूल कारण है। प्रेम को अक्षुण्ण करने के लिए त्याग चाहिए, कुछ व्यवधान होना चाहिए, वह भी विपरीत प्राणियों में।'

"नहीं वासवदत्ता ! सरिता का सागर में लुप्त हो जाना ही महान् प्रेम का प्रतीक है। दो हृदयों का महामिलन ही प्रेम की सफलता है।"

वासवदत्ता ने मनु को धैर्य देते हुए कहा "मनु ! मेरे तन-मन दोनों तुम्हारे हैं। विश्वास रखो, जब कभी मैं आत्मसमर्पण करूंगी, तो केवल तुम्हें।"

"सच ?"

"हां, लेकिन···।" वासवदत्ता ने मनु की ओर पीठ कर दी।

मनु को ऐसा लगा कि सौन्दर्य-माधुर्य का प्रासाद भूकम्प के कारण एकाएक विनष्ट हो गया। अतः उसने तुरन्त वासवदत्ता को अपनी ओर उन्मुख किया और स्थिर दृष्टि से निहारने लगा, "तुम कहती-कहती रुक क्यों गई ?'

"मनु ! मेरे मन में एक क्रूर कांटा प्रतिपल चुभता रहता है। जब तक वह कांटा नहीं तोड़ा जाएगा, तब तक मैं किसी को भी स्वेच्छा से, निर्भयता से प्यार नहीं कर सकूंगी।"

"वह कांटा कौन है ?"

"उसको भग्न कर सकोगे ?"

"मनु चाहे जिसे भग्न कर सकता है। नगर के सबसे बड़े सामन्त का पुत्र मनु क्या नहीं कर सकता ?" उसकी वाणी में अहंकार था।

अहंकार विवेक का नाश कर देता है, मेधा को पथ-भ्रष्ट। मनु के अहंकार पर तीव्र वार करती हुई वासवदत्ता बोली, "श्रीमन्त ! वह कांटा कहीं आपको पीड़ा न पहुंचा दे।"

"मेरी शक्ति की परीक्षा लेना चाहती हो ? मैं उस कांटे को यदि भग्न करूंगा, तो उसके भग्नावशेष भी नहीं मिलेंगे।" अत्यन्त क्रोध आ गया मनु को, "बताओ, वह कांटा कौन है ?"

"पर मैं उस कांटे को बल से नहीं, कौशल से तोड़ना चाहती हूं।"

"क्यों ?"

"ताकि वह कांटा मेरे हृदय की निर्ममता और प्रतिहिंसा की भयानकता से परिचित हो जाए।"

"तुम्हारे हृदय का पार पाना अति दुर्लभ है। अच्छा बताओ, मुझे क्या करना होगा ?"

"तुम्हें ? मनु ! तुम्हें एक प्रीति-भोज का आयोजन करना होगा। उसमें नगरपति को आमन्त्रित करना होगा। समस्त

सामन्तों, श्रेष्ठि-पुत्रों तथा राज्य के प्रमुखों को बुलाना होगा। उनमें वह कांटा भी आएगा, समझे ?"

"हां पर उसका नाम ?"

"वही पर बताऊंगी। सर्वप्रथम तुम प्रीति-भोज का आयोजन करो। ऐसा आयोजन करो जैसा आज तक किसी ने नहीं किया है।" वासवदत्ता मनु के सन्निकट थी, "उस दिवस मैं अपने जीवन का सर्वश्रेष्ठ नृत्य करूंगी। उस दिन तुम देखोगे कि केवल मैं ही नहीं नाचूंगी, अपितु यह गगन, धरा, वातावरण, पवन, चराचर सब नाचेंगे और उस नृत्य में तुम मेरे जीवन का नूतन-नाटिकाभिनय देखोगे। मनु ! उस नाटक की सफलता मेरे जीवन की प्रथम विजय होगी।"

मनु किंकर्त्तव्यविमूढ़-सा वासवदत्ता के वासनादग्ध मुख पर उठते हुए अमानवीय संघर्ष को देखता रहा। अमानवीयता के मूर्त्त होते-होते उसका निरुपम रूप सुप्त हो गया। एक पैशाचिकता व्याप्त थी उसके सलोने मुख पर।

मनु ने सांत्वना दी, "चिंता न करो, तुम्हारे प्रतिद्वन्द्वी का विनाश निश्चित है।"

मनु इतना कह अपने लक्ष्य की ओर बढ़ा। तृप्ति और सन्तुष्टि की ओर झुका, लेकिन वासवदत्ता द्वार से बाहर निकलती हुई बोली, "आज से तृतीय दिवस प्रीति-भोज का उत्सव होगा। अब मैं एकान्त चाहती हूं, प्रणाम !"

तीर की भांति वासवदत्ता मनु की आंखों से ओझल हो गई। मनु क्रोधित और साथ ही पराजित होकर तोरण-द्वार की ओर बढ़ा। यह सोचते हुए, 'विचित्र है यह वासवदत्ता !'

दिनेश की स्वर्ण-रश्मियों से धरित्री आलोकित हो रही थी।

वासवदत्ता भोजन से निवृत्त होकर विश्राम करने के लि

यन-कक्ष में बैठी-बैठी आलस्य की अंगड़ाइयां ले रही थी। सकी उनींदी बोझिल पलकें मानो कह रही थीं, 'सो जा सवदत्ता ! अब सो जा, तू सारी रात पलकों में व्यतीत कर की है, अब तो सो जा।'

वह तन्द्रा की सुखद स्मृति में अपने को विस्मृत करने लगी। क पल, दो पल, तीन पल व्यतीत हुए ही होंगे कि वासव-ता चौंक पड़ी, 'नहीं, मुझे राहुल से रह-रहकर प्रतिशोध लेना ाहिए। मृत्यु की अपेक्षा पीड़ा अधिक वेदनाशील होती है; गर मृत्यु से मेरी समस्या का समाधान नहीं मिलता तो···?" सने तुरन्त अपनी भौंहों को चढ़ाकर अपने-आप से कहा, 'मैं हुल को प्राप्त करने हेतु अनेकानेक अभिनय करूंगी। सीधे ब्दों में कहूं, तो मैं उसे किसी भी भांति प्राप्त करूंगी।'

यह निर्णय करके वासवदत्ता ने परिचारिका को पुकारा। रिचारिका आकर एक छोर पर खड़ी हो गई। उसे अपनी स्वा-मनी की आज्ञा की प्रतीक्षा थी।

वासवदत्ता ने उसे एक पत्र लिखकर देते हुए कहा, "इसे ले ाकर कविवर राहुल को दे दो।"

"जो आज्ञा।"

"पर इस बात का किसी को भी पता न चले।"

"आप विश्वास रखें।" उत्तर देकर वह सत्वरता से चली ई।

पूर्ववत् एकान्त। वही नीरवता और शून्यता। उस न्यता को कम्पित कर देने वाला वासवदत्ता का अट्टहास। सा से सना अट्टहास !

अट्टहास की अति ने वासवदत्ता की आंखों में आंसू ला ए। वह ऐसे मौन हो गई, जैसे गूंगी हो। पलकें ऐसी स्थिर । गई, जैसे उनमें आदि से स्पन्दन नहीं है। क्षण-पल में उसकी आंखों से अश्रु के कितने ही अनमोल मोती ढलक पड़े। ढलकते

अश्रुओं को आंचल से पोंछते ही उसका अन्तर फूट पड़ा, फफक-फफक।

उसके चेहरे के भावों से ऐसा प्रतीत होता था कि एक गहरी व्यथा वासवदत्ता के सुखमय जीवन में पीड़ामय बनकर उठती है और वासवदत्ता उससे आहत होकर केवल रोया करती है, इतना रोया करती है कि उसके तरुण कपोल रक्तिम हो उठते हैं। रोते-रोते जब अश्रु-उदधि सूख जाता, तो वह उलझ जाती अपने भविष्य की उस महायात्रा के महा अन्त से, जहां उसके विचार एक प्रश्न पूछ बैठते हैं, 'तुम्हारा अन्त क्या होगा ?'

'मेरा अन्त ?' वासवदत्ता बड़बड़ाती है।

'हां, एक नगरवधू का अन्त, एक गणिका का अन्त ?'

'मैं क्या जानूं ?'

'मैं बताऊं ?' उसके मन ने कहा।

'बताओ।'

'वासवदत्ता ! तुम्हारे जीवन और तुम्हारी वासना का अन्त घोर ऐकांतिक पीड़ा से ग्रस्त व तिरस्कृत है। जब तुम्हारा जीवन जरा के जर्जर पंजों में पड़कर कुरूप हो जाएगा, तब एक भी प्रेमी तुम्हारे सम्मुख नहीं आएगा। तब तुम्हारे रूप पर आसक्त होने वाले सहस्र शलभ, उस लौ की ओर लपकेंगे, जो हाट में समाज-राज्य के अत्याचार से अथवा अपने दिव्य सौन्दर्य के अभिशाप से गणिका-नगरवधू बनाकर सामन्तों-श्रेष्ठि-पुत्रों का मन बहलाने के लिए बैठा दी जाएगी।'

'तो ?' वासवदत्ता ने लघु प्रश्न किया, जिसमें जीवन के अन्त की गुरु-गंभीर समस्या का समाधान बोलता था।

'आज ही निर्णय कर लो कि मुझे किसी-न-किसी प्रकार धन एकत्रित करना है, ताकि यौवन ढलने के पश्चात् मुझे कष्टमय-प्रताड़ित-तिरस्कृत जीवन-यापन न करना पड़े।'

विचारों के द्वन्द्व से उन्मुक्त होकर वासवदत्ता मन-ही-मन

निर्णय करती हुई उठी और जाकर उसने अपनी सम्पत्ति का मूल्यांकन किया। अपार धनराशि उसकी विशाल अट्टालिकाओं में यत्र-तत्र बिखरी हुई थी। आभूषण, मुद्राएं, मुक्ता-मणि, लाल, हीरों के भण्डार भरे थे, तो भी उसकी लालसा ने आग्रह किया, 'इतनी ही सम्पत्ति और एकत्रित कर लो, तब तुम्हारा जीवन सुख का शान्त सागर बन जाएगा। तुम्हारी महायात्रा के महा अन्त का शुभ फल निकलेगा।' पर जानती हो, धन धर्म से एकत्रित नहीं होता, उसके लिए अधर्म का सम्बल लेना पड़ेगा, पाप के पंक में जाना-आना ही पड़ेगा। क्या तुम जाओगी ?'

'अवश्य जाऊंगी !' उसकी चेतना ने दृढ़ता से कहा, 'धर्म और पुण्य श्रेष्ठि-पुत्रों व सामन्तों के रक्षा-शस्त्र हैं। मनुष्य का निर्वाण मनुष्य की केवल कल्पना ही है। धरती से उत्पन्न वस्तु अन्त में धरती के गर्भ में ही विलीन होती है, शेष रहती हैं, तो केवल स्मृतियां और स्मृतियां भी समय के थपेड़ों के प्रहारों से धुंधली होती हुई एक दिन समाप्त हो जाती हैं। तो फिर ? मुझे धन एकत्रित करना चाहिए, गणिका तो धन शब्द की ही पर्यायवाची होती है। मैं धन एकत्रित करूंगी और धन के साथ मन की तृप्ति, वासना की तुष्टि।'

वासना और राहुल ! वासवदत्ता और कविराज ! !

वासवदत्ता इसी प्रकार मन से सोचती और हाथों से अतुल सम्पत्ति के भंडारों को पूर्ववत् बन्द करती हुई शयन-कक्ष की ओर बढ़ी। उसका अन्तर्द्वन्द्व अब सम्पत्ति से हटकर राहुल पर केन्द्रीभूत हो गया था। वह निरन्तर इसी प्रयास में थी कि राहुल किसी भांति उसका आत्मसमर्पण स्वीकार कर ले।

हां ! राहुल उसके प्रणय को स्वीकार तो कर ले, वह अपने जीवनोद्देश्य को परिवर्तित कर सकती है, क्योंकि राहुल रूप का सागर है, प्रेम का आगार है, गुणों का साक्षात् देवता है।

इस प्रकार वासवदत्ता विभिन्न विचारों को अपने मानस-

क्षेत्र में संघर्ष कराती शयन-कक्ष में आई। अन्तर्द्वन्द्व से भारा-क्रान्त, उत्तेजना से पीड़ित वासवदत्ता दुग्ध-सी श्वेत शय्या पर तन्द्रा की भग्नता में कुछ देर तक पड़ी रही। कुछ पल के लिए वह निर्लेप हो गई, अपनी समस्त अपूर्णताओं से।

द्वार के खटखटाने की ध्वनि ने उसकी तन्द्रा को भंग कर दिया। हठात् ही उठकर वासवदत्ता ने विस्मयाभिभूत दृष्टि से देखा, नवीन प्रभात के निर्मल अरुणालोक का नूतन देवता, सुन्दर मुखमण्डल पर शान्त-मधुर हास्य की छटा। काली-काली आंखों की पुतलियों में श्रद्धा की ज्योति, सत्यम्-शिवम्-सुन्दरम् की कल्याणकारी स्वर्गीय आभा। आगन्तुक ऐसा ही अनुपम युवक था। अनुपम मुद्रा में खड़ा था, वासवदत्ता के समक्ष।

वासवदत्ता का मस्तक श्रद्धानत होकर झुकना चाहा, पर किसी अन्तर की भावना ने उसे रोककर प्रमाद के उन्माद में डुबा दिया। राहुल ने भी देखा, वासवदत्ता को, उसकी उन आंखों को जो राहुल पर स्थिर थीं।

राहुल ने उसकी आंखों की भाषा को पढ़ा। उसके चक्षु मानो कह रहे थे, 'मैं यौवन के मद रस में भीगी मत्तकामोन्मादिनी नारी हूं। मेरे अंग-प्रत्यंग में उद्दाम वासना की क्षुधा ज्वलंत अग्नि के सदृश लग चुकी है। उसके शमन के लिए उतनी ही ज्वलंत विपरीत ज्वाला, चाहिए, राहुल, चाहिए।"

राहुल अपनी दुर्बलता की ओर उन्मुख होते हुए विचारों पर आधिपत्य जमाता हुआ गम्भीरता से बोला, "पत्र में क्षमा-याचना का सम्वाद पढ़कर हार्दिक प्रसन्नता हुई, पर तुम्हारे दर्प का मर्दन अभी तक नहीं हुआ है। मुझे यहां आने का आमंत्रण दे सकती हो, पर तुम नहीं आ सकतीं मेरे गृह पर। आज आ गया हूं, फिर कभी ऐसे बुलाओगी तो अपमान कर दूंगा।" सरोष बोला राहुल।

"तुम्हारा अपमान मेरे लिए वरदान सिद्ध होगा!" राहुल

को अपने समीप बैठने का संकेत किया। राहुल बैठा, तो वासव-दत्ता अद्भुत गम्भीर आकृति बनाकर अन्तर्भेदी दृष्टि से राहुल को देखने लगी, "राहुल ! मैं तुम्हारे गृह आ सकती थी और आना भी चाहती थी, चाहती हूं, पर मैं परवश हूं।" समस्त अनुभूति को अपने स्वर में उंड़ेलती हुई वासवदत्ता पुनः हौले से बोली, "राहुल !"

"क्या है ?"

"तुम्हें मेरा यह जीवन कैसा लगता है ?"

"कीट से हेय।"

"तुम चाहते हो कि मैं इस प्रताड़ित जीवन से मुक्ति पा लूं ?"

"अवश्य।"

"तो इस जीवन के नारकीय भय को सदैव के लिए समाप्त करने हेतु तुम्हें मेरे संग एक नाट्याभिनय करना पड़ेगा।"

राहुल करुण उपहास मिश्रित हंसी हंस पड़ा, "वासवदत्ता ! नाट्य जीवन की अनुकृति है और इसी अनुकृति के आवर्तन में तुम अपने को उलझाती हुई समाप्त कर दोगी। वासवदत्ता ! तनिक गंभीरता से सोचो, इसमें सिवाय दुःख के तुम कुछ नहीं पाओगी।...मैं आज ही भगवान् बुद्ध के वचनामृतों का पान कर रहा था। अध्ययन करते-करते प्राणी को अपने और अपने कृत्यों पर भयंकर ग्लानि होने लगती है।"

"क्या थे वे वचनामृत ?" कौतूहल से पूछा वासवदत्ता ने।

राहुल पश्चात्ताप से भरी दृष्टि को नभ की ओर करता हुआ उपदेशक की भांति बोला, "मानव का तन विकारी है, इसलिए क्षय निश्चित है। जन्म-मरण और उत्पत्ति-विनाश के नियम से कोई नहीं बच सका। ये चिरन्तन हैं।...वासवदत्ता ! प्रलोभन और भोग नाशवान है, फिर भी तुम उनके पीछे झंझा-सी भागती हो, एक मरीचिका लिए।"

"इन्हीं सदुपदेशों से प्रभावित होकर तुम मेरे अनुपम सौन्दर्य की उपेक्षा करते हो ?" वासवदत्ता के नयनों में गर्व दीप्त हो उठा, "पर तुम यह क्यों विस्मृत कर देते हो कि शिलारूपी हृदय पर सागर रूपी सम्पत्ति रखते-रखते हृदय उसका अभ्यस्त हो जाता है, इसीलिए तो मैं तुम्हें कहती हूं कि प्रवचन और विरक्ति की उक्तियां मुझे मत सुनाया करो राहुल ! मैं रूप की उदधि में अपनी उन्मत्त भावनाओं का पैशाचिक नृत्य देखना चाहती हूं । मेरे उर-उपवन में यदि किसी के लिए प्रेम-प्रसून विकसित है, तो केवल तुम्हारे लिए, भाग्यशाली राहुल के लिए। तुम यदि मेरा समर्पण स्वीकार करो, तो मैं उसके उपरान्त तुम्हारा उपदेश भी ग्रहण कर सकती हूं। बोलो, स्वीकार है तुम्हें ?"

राहुल के अधरों पर स्मित-रेखा थिरक उठी।

वह अपनी अन्तर्वाणी में तन्मय होता गया, "वासवदत्ता ! राहुल पर अपने सौन्दर्य के मादक बाण चलाने का प्रयास व्यर्थ है, क्योंकि मैं शीघ्र बौद्ध धर्म अंगीकार करने वाला हूं। मैं भिक्षु बनकर अपने लौकिक प्रेम-काव्य में अलौकिक ईश्वरीय प्रेम की पुण्य ज्योति का दर्शन करना चाहता हूं। जानती हो, तथागत के विचारों ने मेरे मानस में क्रान्ति मचा रखी है। मैं दुःखों और दुःखों के कारणों से मुक्त होकर निर्वाण की अखण्ड साधना करना चाहता हूं।"

वासवदत्ता ने लपककर राहुल को पकड़ लिया। राहुल के समस्त तन में दामिनी-सी कौंध गई। अपने-आप को उसके पाश से मुक्त करने की चेष्टा करता हुआ बोला, "छोड़ दो मुझे वासवदत्ता !"

"मैं अपने को तुम पर विसर्जन करना चाहती हूं।"

"पर मैं अपने-आप को तुम पर उत्सर्ग नहीं कर सकता।" वह वासवदत्ता से दूर हट गया।

"तो तुम मेरे संग रहकर अपनी उच्चतम साधना का तप करो और मैं तुम्हारे संग रहकर अपने प्रेम-प्रदीप को प्रचंड झंझावातों में प्रज्वलित रखने का प्रयास करूं ?" प्रेमपूर्ण प्रश्न किया उसने।

"मैं तुम्हारे संग रहकर अपनी साधना नहीं कर सकता।" झुंझलाहट थी राहुल के स्वर में।

हंस पड़ी वासवदत्ता, "तभी तो कहती हूं कवि, कि तुम्हें जीवन से बड़ा मोह है। सर्वप्रथम वास्तविक रूप में आत्मा के बन्धन, मोह और लिप्सा से मुक्त होओ, क्योंकि तथागत के उपदेशों को हम तभी ग्रहण कर सकते हैं, जब हमारा अन्तःकरण शुद्ध और संसार वार्ताओं से मुक्त हो। हमने अपनी तृष्णाओं का दमन कर लिया हो।"

राहुल गणिका की इस उक्ति से चिढ़ गया। पराजित, किंतु अभिमानी पुरुष की भांति चलता हुआ बोला, "मैं जा रहा हूं। अब यहां कभी नहीं आऊंगा और तुम भी मेरे यहां कभी मत आना। कोई सन्देश मत भिजवाना, क्योंकि तुम्हारा संग मेरा पराभव है।"

"राहुल ! स्वयं तथागत तो उपेक्षिताओं व गणिकाओं के निमन्त्रण स्वीकार करते थे और तुममें इतना आत्मबल नहीं कि नारी के संग एकान्तवास कर सको ? अपनी इस महान् दुर्बलता को लेकर यदि तुम भिक्षु भी बन जाओगे, तो भी विजयी नहीं हो सकते। जानते नहीं, संघों में भी तो तरुणियां हैं। क्या तुम वहां अपनी पिपासा के ज्वालामुखी को दबाए रख सकोगे ?"

वासवदत्ता की बातें राहुल के तन पर तपी सलाख के सदृश लग रही थीं। वह चीत्कार कर कह उठा, "तुम मौन हो जाओ वासवदत्ता !"

"मैं मौन हो जाती हूं।" झट से कहा वासवदत्ता ने।

"मैं अब जाता हूं।"

"मैं तुम्हें नहीं जाने दूंगी।"

"क्यों नहीं जाने दोगी तुम?"

"प्रेम जो करती हूं।"

"पर मैं तुमसे घृणा करता हूं।"

"मैं घृणा को ही प्रेम का पर्याय मानती हूं।"

"माना करो, मुझे कोई आपत्ति नहीं।" कहकर राहुल जाने को उद्यत हुआ।

वासवदत्ता ने झपटकर उसे अपने हृदय से चिपकाकर प्यार से कहा, "मैं तुम्हें अन्तिम बार चेतावनी देती हूं कि मेरी इतनी उपेक्षा न करो कि मेरी नारी को विवश होकर प्रतिहिंसा का भयानक रूप धारण करना पड़े और तब तुम्हारे पर न्यौछावर होने वाली यह रूपसी तुम्हारी मृत्यु का आह्वान करने लगे। तुम्हारा सर्वनाश कर दे।"

"मेरा सर्वनाश?" राहुल ने अट्टहास किया, "राजकवि हूं, वासवदत्ता! राजकवि।"

"नारी के हठ व अज्ञेय चरित्र के चमत्कारों में कितने ही राजकवि क्या, स्वयं सम्राट् पीड़ित, तड़पते, सिसकते पथ पर एकाकी दृष्टिगोचर हुए हैं। तुम भी अपना भला-बुरा सोच लो।"

"सोच लिया।" क्रोधित राहुल कक्ष से बाहर हो गया।

वासवदत्ता ने रणचण्डी-सी प्रचंड-उद्दण्ड होकर मधु-चषक से जनसम दर्पण को तोड़कर खण्ड-खण्ड कर दिया।

प्रीतिभोज का कार्यक्रम समाप्त हो गया। इस कार्य के पश्चात् गृहलक्ष्मी का सन्देह सत्य में परिणत हो गया।

उसके मन-मन्दिर में यह बात सांस की भांति बस गई कि उसका पति मनु नगर की नर्तकी वासवदत्ता पर पूर्ण रूप से आसक्त है। वह उसके पति को अपनी अंगुलियों पर नचा

सकती है, संकेतों से उठा-बैठा सकती है।

इन दुःखद विचारों से मुक्ति प्राप्त करने हेतु गृहलक्ष्मी अपने को निर्विकार समझकर कक्ष के वातायन से महाशून्य की ओर निहारने लगी।

दूर, बहुत दूर, समस्त दिग्दिगन्त तिमिराच्छन्न था। केवल प्रकाशमान् थे, तो झिलमिलाते तारे। मणि-मुक्ताओं जैसे दीप्त तारे।

अप्रत्याशित मेघों ने भयावह गर्जना की। अकेली गृहलक्ष्मी के हृदय में भय उत्पन्न हो गया। एक अपरिचित आशंका से उसका अन्तर विह्वल हो उठा। सलोने-मृदुल व्यथा आलोड़ित आनन पर घटाएं-सी छा गईं। वह एक दीर्घ निःश्वास छोड़ बैठी, 'युग-युग से पुरुष नारी पर अमानुषिक अत्याचार करता आया है। मर्यादा पुरुषोत्तम राम से लेकर आज तक नारी पुरुषों की चेरी रही है। जब-जब अत्याचार से प्रताड़ित होते-होते वह विद्रोहिणी बनी, तब-तब पुरुष ने भांति-भांति की चेष्टा-कुचेष्टा से उसका शोषण किया।' उसके विचार समष्टि से व्यष्टि पर आ गए। 'मुझे ही देखो, नगर के सामन्त-पुत्र मनु की पत्नी होकर इन श्रावण-भाद्र के माह में जब कम्पन-भरे मलय की सौरभ से सृष्टि का कण-कण महक रहा है, तब मैं विरहिन बनी उनकी प्रतीक्षा में सारी रात नयनों में जागते-जागते व्यतीत कर देती हूं। मेरा हृदय एक तड़प के लिए आकुल रहता है। कभी-कभी आवेश के कारण मन मरने का निश्चय कर लेता है कि मैं भी; परन्तु...।' गृहलक्ष्मी का विद्रोह की ओर अग्रसर होता हुआ मन भगवान् के कोप से डर गया। 'आत्म-हत्या पाप है। उससे केवल इहलोक ही नहीं परलोक भी बिगड़ जाता है। इससे प्राणी को जन्म-जन्मान्तर मोक्ष नहीं मिलता।' और गृहलक्ष्मी के चेहरे पर संघर्ष के उतार-चढ़ाव आने लगे।

प्रकोष्ठ में घोर नीरवता थी और भयावह निस्तब्धता थी

गृहलक्ष्मी के उर में। वह अपने बारे में सोचने लगी।

'वासवदत्ता के रूप से मैं क्या कम हूं ? वह मोहित मुग्धा है, तो मैं कल्याणी कामिनी हूं, फिर सामाजिक-धार्मिक बंधनों को त्यागकर मेरा उपासक पर-स्त्री की उपासना क्यों करता है ?'

'हां, गृहलक्ष्मी ! क्यों करता है ?' गृहलक्ष्मी के मन ने पूछा।

'प्रीतिभोज के उत्सव में नगरपति की उपस्थिति के मध्य सदस्य जन-समुदाय के लक्षित करने पर भी मेरे पतिदेव लोलुप हिंस्र जन्तु की भांति तीक्ष्ण दृष्टि से वासवदत्ता की ओर क्यों घूर रहे थे ?

'आन, मान और अभिमान को विस्मृत करके जब नर्तकी अपने अंग-प्रत्यंग और उपांगों से अभिनय करती हुई झूमती, तो वह अबोध बालक की भांति क्यों उछल पड़ते थे ?

'जब वासवदत्ता अपनी लता सदृश मृदुल लचकीली कटि को छिन्ना, निवृता, रेचिता, कम्पिता, उद्‌हिता स्थितियों में लचकाकर एक पूर्ण आवर्तन निकालती, तो उनके मुखारविंद से वाह-वाह प्रस्फुटित क्यों हो जाता था ?

'जब वासवदत्ता अपनी पलकों को उन्मेष, निमेष, प्रसृत, कुञ्चित, सम, विवर्तित आदि क्रियाओं में नचाकर कटाक्ष करती, तो मेरे मांग के सिंदूर के संग स्वयं नगरपति स्वाति बूंद विहीन आहत पपीहे की भांति क्यों कलप पड़ते थे।

'मैं देखती रही और देखकर कुछ न कर सकी। मेरे सुहाग को सौम्य संसृति में स्फुलिंग बनकर आने वाली नारी के ज्वलित कणों का आभास पाकर भी मैं प्रकोष्ठ में निरुपाय-सी बैठी रही। जीवन की यह कैसी लाचारी है ?' सोचकर गृहलक्ष्मी का हृदय रो उठा।

तुरन्त वह बड़बड़ाई, 'जब वासवदत्ता नृत्य के मध्य केवल

नगरपति के समक्ष एक सुन्दर मुद्रा में खड़ी हुई और नगरपति आनंदातिरेक में उसे एक सतलड़ा हार पारितोषिक रूप में देने को उद्यत हुए, तो उनके लोचनों में अनल का घोर मौन आर्त-नाद कर उठा था; पर तत्काल वे भी विवश थे; ठीक मेरी तरह।'

इसी प्रकार विचारों में उलझी हुई गृहलक्ष्मी स्वप्नाविष्ट नयनों से अभी तक शून्य का अवलोकन कर रही थी।

धीरे-धीरे उसे निद्रा सताने लगी। पलकें श्रान्त होकर परस्पर मिलने के लिए आतुर होने लगीं। तन भी थकान के मारे भाराक्रान्त हो उठा था।

नील निलय में दामिनी की चमक के संग मेघों की एक गुरु-गम्भीर गर्जना हुई। यह गर्जना वृष्टि के आने की सन्देशवाहक थी। देखते-देखते वृष्टि होने लगी। वृष्टि के साथ दामिनी उस तिमिरमयी घटाओं के वक्ष को बार-बार चीरती हुई ऐसे चमक उठती थी; जैसे निराशाओं के धुंधलेपन में आशा की झलक।

गृहलक्ष्मी को भय लगा। एकाकीपन उसको पीड़ित कर गया। उसने एक पल के लिए अपनी रूपराशि पर दृष्टिपात किया और उपेक्षा की पीड़ा से रो उठी। रोते-रोते उसकी आंख लग गई। प्रकोष्ठ द्वार पर निस्तब्धता निर्मम प्रहरी के सदृश पहरा दे रही थी।

केवल सुनाई पड़ रही थी, गृहलक्ष्मी की श्वास-प्रश्वास। सीढ़ियों पर पदचाप सुनाई पड़ी। पदचाप कक्ष-द्वार पर आकर रुक गई। कुछ काल द्वार पर रुककर उसने भीतर प्रवेश का साहस किया, तो निस्तब्धता के प्रहरी ने उसे रोका। आगन्तुक ने भी उसकी आज्ञा को माना; पर एक पल के लिए फिर तुरन्त सबकी अवहेलना करता हुआ कक्ष में प्रविष्ट हो गया। दीप-शिखा का प्रकाश मद्धिम था, जिसे आगन्तुक ने प्रखर किया और देखा, सुषुप्त लक्ष्मी को।

पराजित-निरुत्साही मन था मनु का आज। वह यंत्रचालित-सा गृहलक्ष्मी पर झुका। उसे स्पर्श किया। इस स्पर्श से गृहलक्ष्मी ने अपनी पलकों को कलियां जिस तरह विकसित होती हैं उस तरह खोला।

हृदय को विश्वास नहीं हुआ। सोचा, 'यह स्वप्न है या सत्य?' तुरन्त उसने मनु के अंग-प्रत्यंग को स्पर्श करके अपने भ्रम का निवारण किया। आज दीर्घकाल बाद मनु उसके शयन-कक्ष में आया था।

प्रणयविह्वल-सी होकर उसने मनु को क्षण-भर के लिए आलिंगन में आबद्ध किया, फिर उससे विलग होकर शून्य की ओर निहारने लगी।

मनु कम्पित स्वर में बोला, "प्रिये! विलग न हो।"

गृहलक्ष्मी मूक रही।

"मुझसे रूठ गई हो?"

इस बार गृहलक्ष्मी ने अर्थ-भरी दृष्टि से देखा। नयन मानो बोल उठे, 'चतुर पुरुष, तुम्हें रमणी की दुर्बलता से खूब खेलना आता है!'

गृहलक्ष्मी को इतना रोष आया कि वह मनु को दुत्कार दे, फटकार दे, अपमानित कर दे; पर वह ऐसा नहीं कर सकी। न जाने क्यों वह ऐसा नहीं कर सकी, कदाचित् वह एक धर्म-परायण पत्नी थी, तो भी अपने अन्तर की असन्तुष्टि को निकालती हुई वह उष्ण स्वर में बोली, "आज उस गणिका ने दुत्कार दिया क्या?"

प्रहार मार्मिक था, मनु विचलित हो गया। एक पल में उसकी आकृति पर क्रोध की विकृत रेखाएं उठीं और मिट गईं।

"नहीं! आज मैं तो भ्रमण करने गया था।" अपराधी की भांति दृष्टि को इधर-उधर भटकाकर उसने कहा।

"ऐसा तो आज तक नहीं हुआ है।"

"मैं सच कहता हूं प्रिये ! आज मैं वासवदत्ता के यहां गया ही नहीं।"

"विश्वास नहीं होता आप पर।"

"नारी का दूसरा नाम अविश्वास है। गृहलक्ष्मी ! नारी को विश्वास दिलाने के लिए प्रत्यक्ष प्रमाण चाहिए और वह प्रत्येक पल सुलभ नहीं होता।" मनु की दृष्टि गृहलक्ष्मी के चेहरे पर जम गई।

गृहलक्ष्मी भी पुरुष की उस स्थिर दृष्टि से उत्पन्न लज्जा के कारण नतनयन हो गई।

कुछ काल यह प्रथम प्रणय-लीला का अभिनय होता रहा। एकाएक सर्प के फुंकार मारने की क्रिया को देखकर प्राणी साव-धान होता है, ठीक उसी प्रकार गृहलक्ष्मी अपने कर को मनु के हाथों से मुक्त करके कह उठी, "नहीं, मुझे आप छोड़ दें। मुझे स्पर्श न करें।"

मनु के मर्म-स्थल पर आघात लगा। वह सत्वरता से बोला, "तुम मेरे आनन्द में विघ्न डाल देती हो, आत्मा को तुम अतृप्ति की पीड़ा में जलने के लिए छोड़ देती हो, तुम्हारा यही स्वभाव कभी संघर्ष में परिणत हो जाएगा।" मनु ने एक चेतावनी दी।

गृहलक्ष्मी ने मनु के तमतमाए ताम्रवर्णी चेहरे को देखा और मन-ही-मन सोचा, 'जिस प्रकार तुम्हारे हृदय को दुःख पहुंचता है, ठीक उसी प्रकार तुम्हारे पर-स्त्री गमन पर मुझे पीड़ा होती है। जब मैं एकाकी वरदानमय यौवन को लिए अभिशापित पल व्यतीत करती हूं, तब तुम्हें मुझ पर तनिक भी दया नहीं आती। जब मैं चरण-स्पर्श करके अनुनय से कहती हूं कि नाथ ! आज मत जाइए, तो मेरी प्रार्थना को कुचलकर हृदयहीन की भांति चले जाते हो।··· निर्मोही कहीं के, जाइए न, कौन रोकता है आपको ?··· पर आज, आज मैं भी आपको सुख नहीं दूंगी। आप मुझे रह-रहकर जलाते हैं, तो मैं भी आपको

एक संग जलाकर भस्मीभूत कर दूंगी।' सोचते-सोचते गृहलक्ष्मी के नयनों में अश्रु छलछला आए।

"अरे तुम रोती हो ?"

"नहीं !" अनिच्छा से कहा गृहलक्ष्मी ने।

"धत्, पोंछो इन आंसुओं को, गृहलक्ष्मी ! मेरी एक बात सुनो ! मैं वासवदत्ता के यहां अवश्य जाता हूं; पर केवल आमोद-प्रमोद के लिए। गृहलक्ष्मी ! मैंने स्वप्न में भी किसी अन्य स्त्री से दुष्कर्म करने के बारे में सोचा तक नहीं।" मिथ्या की पराकाष्ठा का उल्लंघन करके मनु बोला।

"मन मन का भेद नहीं जानता।"

"पर मन, मन का विश्वास तो कर सकता है। गृहलक्ष्मी ! मैं प्रभु से यही प्रार्थना करता हूं कि मुझे बस इस पतन से बचाए।" मनु ने पुनः गृहलक्ष्मी का कर पकड़कर अपने सन्निकट शय्या पर उसे बैठा लिया, "गृहलक्ष्मी ! मेरे मन-मंदिर में केवल तुम्हारा वास है। संगीत और नृत्य का प्रेमी होने के कारण मैं वासवदत्ता के यहां अवश्य जाता हूं; पर अभी तक उसके किसी भी अंग का पतित भावना ने स्पर्श तक नहीं किया। भरोसा रखो। मैं तुम्हें चाहता हूं, केवल तुम्हें ही चाहूंगा. आज-भर नहीं, आने वाले कल में भी।"

नारी ने पति के विश्वासों में, आश्वासनों में और मिथ्या प्रेम-प्रदर्शन में अपने हृदय का सकल द्वेष-कलुष मिटाकर उसे अपना जीवन समर्पण कर दिया। पुरुष फिर विजयी हो गया।

नगरपति के हाथ में मधु-चषक थमाती हुई वासवदत्ता बोली, "आपको इस तुच्छ नर्तकी का साधारण नृत्य पसंद आया ?"

"साधारण कैसा ? अनुपम क्यों नहीं कहती ?" नगरपति ने मधु का एक घूंट पीते हुए कहा, "तुम्हारे अधरों से गीत,

हाथों से अर्थ, नेत्रों से भाव और पांवों से ताल का सुंदर प्रदर्शन देखकर तो मैं स्तम्भित रह गया। गणिके ! मेरे मन से तुम्हारी स्मृति ओझल हो रही थी, यह तुमने उचित ही किया कि मुझसे मिलने की अभिलाषा प्रकट की।"

"और मैं इसका धन्यवाद सामन्त-पुत्र मनु को देती हूं, जिसने कार्षापण, अर्धवाद, भापक तथा रूपी[1] की चिंता किए बिना इस उत्सव को पूर्णरूपेण सफल बनाया।"

"मनु से हम भली भांति परिचित हैं। वह श्रेष्ठ सामन्ती वंश का है। वहुत दिन पूर्व वह किसी अत्यंत लावण्यमयी क्रीत दासी से भी प्यार करता था, जो अंत में गणिका बनकर कहीं सुदूर दक्षिण में चली गई।"

इस कथन पर वासवदत्ता के कान खड़े हो गए।

प्रीति-भोज के उपरान्त नगरपति का ध्यान वासवदत्ता की ओर आकृष्ट हुआ था; पर राज्यप्रतिष्ठा का ध्यान रखकर उन्होंने उसे मिलने का आमंत्रण नहीं दिया था; पर जब वासवदत्ता ने स्वयं उनसे मिलने की इच्छा प्रकट की, तो नगरपति ने तुरंत इस इच्छा को पूर्ण करने की स्वीकृति दे दी।

और आज सांध्य नक्षत्र के उदय होने के संग ही नगरपति की व्यक्तिगत वाटिका में वासवदत्ता की शिविका आकर रुकी।

नगरपति पूर्व से ही प्रतीक्षा कर रहे थे। पलक झपकते ही उसके समीप गए। वासवदत्ता का हाथ अपने हाथ में लेकर शिविका से उतरने में सम्भल दिया। वासवदत्ता का शीर्ष और नयन दोनों प्रणाम हेतु नत हो गए। तत्पश्चात् नगरपति ने उसे अपनी वैभव-सम्पन्न वाटिकाओं में विहार कराया। जब नक्षत्रों से नभ दीप्त हो उठा, तब वे दोनों केलि-भवन में पूर्व सज्जित शय्या पर आकर मधु-पान करने लगे।

---

१. बौद्धकालीन सिक्के।

"असम्भव है।"

"इसलिए कि आपका हृदय निर्मल जल की भांति स्वच्छ है, पर दूसरों का हृदय तो कल्मष की भांति कलुषित भी हो सकता है।"

"यह बता सकती हो कि वह कौन है?"

"चरण-धूलि को उसका परिचय देना और उसके अपराध को बताना स्वीकार है; किंतु यह सब बताने के पूर्व मैं इसकी स्पष्टोक्ति चाहती हूं कि अपराधी को दण्ड निश्चय ही मिलना चाहिए।"

"क्यों? अपराध प्रमाणित हुए बिना दण्ड देना न्याय के विरुद्ध नहीं समझा जाएगा?"

"लेकिन अपनी आत्म-रक्षा हेतु अपराधी भांति-भांति के तर्क उपस्थित करके अपने अपराध को निरपराध का रूप भी दे सकता है।"

"यह कैसे हो सकता है?"

"महाराज! व्यक्तिगत अपराधों के लिए प्रमाणों का प्राप्य होना अति दुर्लभ है और बिना प्रमाण के अपराध प्रमाणित नहीं किया जा सकता।"

नगरपति अविचल-से वासवदत्ता के समीप खड़े होकर अंधकार की ओर निहारने लगे।

उनकी भंगिमा से प्रतीत हो रहा था कि इस तिमिर के महाशून्य में इस समस्या के समाधान का अनुसरण कर रहे हैं। उन्होंने वासवदत्ता को नितांत मौन देखकर कुछ कहना चाहा; पर कह नहीं सके। तब वासवदत्ता शय्या की ओर बढ़ी, "महाराज! आप आज्ञा दें। मैं प्रस्थान करना चाहती हूं।"

"प्रस्थान करना चाहती हो?" नगरपति ने विस्मय से पूछा।

"हां, रात व्यतीत हो रही है।" वह द्वार की ओर बढ़ी।

नगरपति पथ-प्राचीर बन गए, "व्यतीत होती है, तो होने दो; पर तुम मत जाओ।"

"महाराज ! न्याय-निर्णय पर आपका मौन होना मेरे हृदय में विचित्र भावों की सृष्टि कर रहा है। मैं सोच रही हूं कि क्या महाराज अपनी स्वेच्छा से मेरे अपमान के प्रतिशोध का प्रतिकार नहीं निकाल सकते ?"

उत्तेजना से तापित नगरपति का अहम् भाव बोल उठा, "मैं इतना निर्बल हूं क्या ?"

"ऐसा मैं कैसे कह सकती हूं ?"

"समझती तो हो ?"

"नहीं, मैं आपको निर्बल नहीं समझती; पर अपनी ओर से आपको तनिक उदासीन पाती हूं।"

"नहीं, वासवदत्ता ! तुम्हारे हृदय के मूक क्रन्दन में तुम्हारी निर्दोषिता की वाणी सुन रहा हूं। तुम्हारा अपमान करने वाले का सम्मान शीघ्र ही धूलि-धूसरित होगा।"

शिशु की भांति अबोध बनकर वासवदत्ता ने नगरपति के वक्ष पर अपना मस्तक रख दिया। बोली, "राजनीति के कर्ताओं की वार्ता पर विश्वास नहीं किया जाता, क्योंकि राजनीति से धर्म गौण माना गया है, फिर आप तो नृप हैं। दायित्वों से बंधे। न्याय के मानदंडों से जकड़े। लोक-दृष्टि में मेरा काम अनुचित भी हो सकता है। अतः आप मुझे वचन दीजिए।"

"वचन !" नगरपति के मन ने रोका, 'यह गणिका है, जो समयान्तर कितने ही रूप बदलती रहती है। उन सभी के भिन्न-भिन्न तात्पर्य और स्वार्थ होते हैं।'

"किसी को प्राण दंड दिलाने की इच्छा है क्या ?" नगरपति ने विहंसकर कहा मानो परिहास में वासवदत्ता के मन की थाह लेना चाहते हैं।

"नहीं।"

"किसी धनी को धनहीन करना है ?"

"नहीं ।"

"तो ?"

"केवल किसी को श्रीहीन करके निर्वासन देना है ।"

"क्यों ?"

"उसने मेरी प्रतिष्ठा को धूलि-धूसरित करने की चेष्टा की थी ।"

"फिर तुमने अपनी रक्षा उससे किस प्रकार की ?"

"युक्ति से ।"

"सुंदर ! तुम्हारी बुद्धि..."

"महाराज !" बीच में बोली वासवदत्ता, "उस दिन भगवान् मेरा साथ नहीं देता, तो मैं...।"

"अपनी बात स्पष्टता से कहो ।"

"घटना दो माह पूर्व की है। अपराह्न काल था। गगन मेघाच्छन्न था। मारुति के अदृश्य झूले पर चढ़कर मन-मयूर मतवाले हिचकोले ले रहा था। तत्क्षण किसी के आने की आहट सुनाई पड़ी।

"मेरे प्रकोष्ठ का द्वार बंद था। मैंने समझा कोई परिचारिका होगी; पर मैंने देखा, एक अत्यंत गोरा चरण द्वार के भीतर प्रवेश कर रहा है। वह चरण एक तरुण का था। मैं उसे देखती रही और वह मुझे देखता रहा।

"एक पल, दो पल, तीन पल देखने में ही व्यतीत हुए, तब उस तरुण के अधर मुसकरा पड़े। मुझे एक अद्भुत आकर्षण की विद्युत् उस मुसकान में जान पड़ी। सम्मोहित-सी उठकर मैं तरुण के समीप गई। तरुण ने दो डग और बढ़ाए।

" 'मैंने किंचित् स्मितरेख से कहा, 'प्रणाम !'

"युवक अपनी वाणी में मधुमय प्रणय सिंचित करते हुए बोला, 'प्रणाम देवी !'

" 'आसन ग्रहण कीजिए।' मैंने कहकर मन में सोचा, 'व्यक्ति सुसंस्कृत एवं सभ्य है।'

"युवक हिम-सी श्वेत संगमरमर की वेदी पर बैठ गया।

" 'तुम्हारा नाम वासवदत्ता है?'

" 'जी।'

" 'नगर की श्रेष्ठ सुंदरी, तुम्हारा सौंदर्यसम्पन्न तन केवल दृश्यमात्र है या स्पृश्यमात्र?'

"आगन्तुक का बेढंगा प्रश्न सुनकर मैं सम्भलकर बोली, 'मेरा सौंदर्य दृश्यमात्र है, मेरा स्पर्श मेरी अनिच्छा से कोई नहीं कर सकता।'

" 'तुम तो गणिका हो, सम्पत्ति तुम्हारे जीवन का मूलमंत्र है, मैं तुम्हें अतुल सम्पत्ति दे सकता हूं।'

" 'सम्पत्ति मेरे जीवन का मूलमंत्र अवश्य है; पर आनन्द नहीं, हृदय की परम शांति नहीं।

" 'गणिका और हृदय?' तरुण खिलखिलाकर हंस पड़ा, 'यह तो तुमने विरोधाभास की बात कह दी।'

" 'इस विरोधाभास में ही सत्य का सही रूप है। जानते हो, तन का क्रय-विक्रय किया जा सकता है; पर मन का नहीं। मन का तो तभी विक्रय किया जा सकता है, जब वह प्रणय के अटूट बंधनों में बांध लिया जाए।' मैंने भावातिरेक में कहा।"

फिर वासवदत्ता निस्तब्ध हो गई। अल्प क्षण पश्चात् वह अपने नयनों में नाट्य-नेत्री की भांति कृत्रिम विषाद लाकर बोली, "महाराज, फिर उस तरुण ने क्या किया…"

"बताओ, क्या किया?"

"वह हिंस्र जन्तु की भांति मेरी ओर लपका। मैं कांपी, सिहरी और भय से आतंकित हो गई। चीत्कार करने के लिए मैंने अपना मुंह खोला कि उसने झपटकर मेरा मुंह वस्त्र से बंद कर दिया।"

इतना कहकर वासवदत्ता नगरपति की ओर इस हेतु से देखने लगी कि इस कथा की उन पर क्या प्रतिक्रिया हो रही है। उसने देखा, महाराज की आकृति ताम्रवर्ण-सी हो गई है। भृकुटि वक्र होकर तन गई है। बाण ठीक निशाने पर था।

वह भरीये स्वर में बोली, "ओह! कितनी अमानुषिक वेदना की घड़ी थी वह?"

"वह तरुण कौन था?" रोषयुक्त स्वर में बोल उठे नगरपति।

"मैं उसी तरुण से अपना प्रतिशोध लेना चाहती हूं!" धैर्य से कहा वासवदत्ता ने।

"उसके हाथ काट दिए जाएंगे रूपसी!"

"नहीं।"

"क्या यह दण्ड उचित नहीं?"

"नहीं, महाराज! मैं इतने वीभत्स दण्ड विधान की समर्थक नहीं हूं। मैं तो केवल उस युवक को श्रीहीन करके, उसका नगर से निर्वासन चाहती हूं।"

"हमें यह दण्ड देना स्वीकार है।"

"महाराज! वह आपका प्रियपात्र है।"

"तुमसे भी···?" महाराज की वासना बोली।

'हां!"

"नहीं, मुझे तुमसे प्रिय अन्य वस्तु नहीं है। शीघ्र ही उस चरित्रहीन का नाम बताओ।"

"उस युवक का नाम···?" कहती-कहती वासवदत्ता मौन हो गई।

"यह कैसा अभिनय?···कहो न रूपसी!" महाराज अपनी अतृप्ति से वाचाल हो गए।

"आपका राजकवि राहुल।'

"गणिके!" नगरपति चीख-से पड़े।

"महाराज ! वचन का पालन कीजिए, नहीं तो रजनी का आंचल विदीर्ण करती उषा रानी आ जाएगी।"

नगरपति ने एक आज्ञा-पत्र लिखकर अपने दास को दे दिया।

वासवदत्ता के नयनों में तत्क्षण प्रतिशोध बोल उठा, 'देखा राहुल ! नारी के चरित्र को ?'

प्राची के प्रांगण में अंशुमाली की रश्मियां नूतन उन्मेष लेकर नर्तन करने लग गई थीं। नभ गहरा नीलाभ था। कहीं-कहीं श्वेत घन के टुकड़े पंखों की तरह घूम रहे थे।

चंद नगरवासी अपनी गगनचुम्बी अट्टालिकाओं की छतों पर बैठे रश्मियों का अवलोकन कर रहे थे और उन लक्षाधीशों व सामंतों की श्वेत स्फटिक-सी प्रस्तर की बनी अट्टालिकाएं रश्मियों के प्रकाश से अत्यन्त मनोरम लग रही थीं।

प्रवासी व्यवसायी व श्रेष्ठि-पुत्र प्रातःकाल की अमृतमयी व स्वास्थ्यवर्धक पवन का आनन्द लेने के लिए अपने गृहों से रथों पर सवार होकर उषा की धुंध के संग जो बाहर निकले थे, अब वे पुनः गृहों की ओर लौटने लगे थे।

उन सबका ध्यान उस जन-समूह की ओर लगा हुआ था, जो द्रुतगति से वेगवती धारा के सदृश जन-पथ के दक्षिण छोर पर स्थित हरीतिमाच्छन्न क्षेत्र की ओर बढ़ रहा था, अत्यन्त तीव्र कोलाहल करता हुआ।

उस जन-समूह में उस नगर के नयी पौध के रूप में शिशु, कलियां स्वरूप बालक, अंकुर सदृश किशोर, सुमन भांति युवक, सौरभ रूप प्रौढ़ और विनाश की स्थिति में कुम्हलाए सुमन के सदृश वृद्ध थे।

उस जन-समूह में सृष्टि की जन्मदात्री, संचालिका और संहारिका नारियां भी थीं। सारे जन-समूह पर श्रद्धा का मौन

और दर्शन की उत्कंठा छाई हुई थी। आपस के तन-घर्षण तथा स्पर्श से अपरिचित वह जन-समूह केवल क्षेत्र की ओर बढ़ता जा रहा था। वासवदत्ता का रथ भी उसी पथ से जा रहा था।

वासवदत्ता की घनी काजल-सी अलकें उसके शशि-मुख के चतुर्दिक् आच्छन्न थीं। उन श्यामल अलकों के मध्य प्रकाशपुंज की भांति दीप्त उसका आनन अत्यन्त भला लग रहा था। वासवदत्ता की उनींदी पलकों में मद का क्षीण प्रभाव अब भी था। वसन भी अंग-सौष्ठव के अनुसार पहने हुए नहीं थे। वासवदत्ता का रथ परिचित था वहां के श्रेष्ठि-पुत्रों के लिए, वहां के नागरिकों के लिए, सामंतों व प्रवासी जनों के लिए।

लेकिन आज उसने एक आश्चर्य पाया। एक बड़ा आश्चर्य कि सारा जनपद, जो उस सुन्दरी के रथ की ओर आकृष्ट हो जाता था, आज उसे दृष्टि-भर भी नहीं देख रहा था।

उसने ध्यान से उस कोलाहल के मध्य उठते हुए अस्फुट शब्दों को सुनने की चेष्टा की। उसे सुनाई पड़ा, 'आचार्य भिक्षु उपगुप्त पधारे हैं, उनका भाषण होगा। भिक्षु उपगुप्त का भाषण अमरवाणी से कम नहीं, चलें, शीघ्र चलें।'

वासवदत्ता ने सही स्थिति जानने हेतु सारथी से कहा, "किसी श्रीमान् से पूछो कि यह जन-समूह आज किधर प्रस्थान कर रहा है ?"

सारथी ने एक व्यक्ति से पूछकर नम्र शब्दों में निवेदन किया, "तथागत के परम शिष्य आचार्य उपगुप्त का आज नगर में आगमन हुआ है। उन्हींकी वाणी का श्रवण करने सारा जनपद जा रहा है।"

वासवदत्ता ने राहुल से, उस निष्कासित राहुल से जो कल नगरपति के हृदय का उच्छ्वास था, आज श्रीहीन और धनहीन होकर कहीं अन्य नगर में भटक रहा होगा उपगुप्त की अति प्रशंसा सुन चुकी थी। उसके हृदय में कुतूहल जगा, उपगुप्त को

देखने का कुतूहल जगा और कुतूहल के साथ जिज्ञासा बढ़ी।

अल्पकाल के लिए मौन रहकर उसने मन-ही-मन कुछ निर्णय किया, फिर अपने आंचल को सुव्यवस्थित करती हुई बोली, "सारथी ! रथ उस क्षेत्र की ओर हांको, जहां भिक्षु भाषण करेंगे।"

सारथी ने रथ की गति द्रुत कर दी। वासवदत्ता अचल-सी सोच रही थी, 'भिक्षु उपगुप्त का महान् व्यक्तित्व होगा, तभी तो समस्त जनपद उसकी ओर इस प्रकार आकर्षित हो रहा है, जिस तरह लोह-वस्तु चुम्बक की ओर होती है। अवश्य ही वह सौंदर्य-गुण सम्पन्न होगा, तभी तो जनपद मुझे विस्मृत कर रहा है।'

रथ क्षेत्र में पहुंचा। क्षेत्र में अपार जन-सागर-सा उमड़ा हुआ था। सागर की लोल लहरों की भांति जन-समूह मौन हल-चल कर रहा था।

एक उच्च वेदी पर अत्यन्त तरुण-करुण युवक खड़ा अपनी ओजस्वी वाणी में समस्त श्रोताओं में भगवान् बुद्ध के निर्वाण-पथ की महत्ता का संचार कर रहा था। सब पपीहों की भांति उन शब्दों को स्वाति-बूंद की समझकर पान कर रहे थे, कृतार्थ हो रहे थे।

कभी-कभी कोई व्यक्ति अपने समीप खड़े व्यक्ति को धीरे से कह उठता था, "उपगुप्त की वक्तृत्व कला का सब लोहा मानते हैं।"

भिक्षु उपगुप्त धाराप्रवाह कहते जा रहे थे, "तथागत प्रभु ने कहा है कि सत्य ही नित्य है और सब नश्वर, अतः जीवन को निर्वाण की ओर लगाओ, वृथा निंदा-स्तुति कभी किसी की मत करो, क्योंकि इससे समय व्यर्थ जाता है।" इतना कहते-कहते भिक्षु के स्वर में घनीभूत व्यथा का मिश्रण हो गया। उनकी प्रेममयी आंखों में पश्चात्ताप बोल उठा, "तुम राग-द्वेष, निंदा-

स्तुति, सुख-दुःख और जीवन-मरण आदि द्वंद्वों की चिन्ता से निश्चिन्त रहो, न्याय और संतोष को अपना भाग्य विधाता समझो, दुःख से कदापि भय मत खाओ। उसकी इतनी उपेक्षा करो कि मानो उसका कोई अस्तित्व ही नहीं है।" इतना कह भिक्षु उपगुप्त मौन हो गए।

एक श्रोता-जिज्ञासु ने उच्च स्वर में पूछा, "भन्ते ! अहम् क्या है ?"

उपगुप्त गम्भीरता से प्रश्न का उत्तर देने लगे, "अहम् एक भ्रम है, एक पतन है और एक स्वार्थ है। प्राणी को इससे उतना ही बचना चाहिए, जितना एक प्राणी के प्रहार से।"

जन-समूह में एक प्रकांड पंडित थे। उन्होंने तीव्र स्वर में प्रश्न किया, "भन्ते ! संघों में भिक्षुणियां भी रहती हैं। बौद्ध धर्म के मतानुसार वे किस दृष्टि से देखने योग्य हैं ?"

इस प्रश्न के संग प्रश्नकर्त्ता पर भिक्षु की दृष्टि स्थिर हो गई और रुक गई पैनी दृष्टि वासवदत्ता की भिक्षु के सुषमामयी तेजस्वी आनन पर।

वासवदत्ता ने देखा, अलौकिक मुख-मण्डल पर सात्त्विक तथा शान्त सौंदर्य छलक रहा है। मुंडन की हुई मुखाकृति, दीर्घ उन्नत-वक्षस्थल और मांसल तन उसके पूर्ण स्वस्थ होने के प्रतीक हैं।

उसने यह भी देखा कि आचार्य उपगुप्त के चेहरे के भाव जैसे कह रहे हैं कि प्रश्न का उत्तर देकर हम प्रश्नकर्त्ता के अज्ञान पर दया कर रहे हैं।

अपने हाथ को शून्याकाश की ओर उठाते हुए उपगुप्त बोले, "बौद्ध धर्म ने नारी को त्रियारूप में अंगीकार किया है। प्रत्येक भिक्षु जो बौद्ध धर्म की दीक्षा पूर्णरूपेण ले चुका है, वह तथागत के आदेशानुसार बालिका को पुत्रीरूप, युवती को भगिनीरूप तथा स्त्री को मां स्वरूप मानेगा। महाप्रभु का आदेश है कि प्रत्येक

भिक्षु मनसा, वाचा, कर्मणा इस मान्यता को माने। यदि वह इस आदेश के प्रति तनिक भी अनुत्तरदायी रहेगा अथवा अपने मानस में कलुष उत्पन्न करेगा, वह तथागत के संग-संग अपनी आत्मा से भी छल करेगा और अपनी आत्मा से छल करने वाला महापातकी होता है। उसे ऐहिक जीवन में कभी भी शांति नहीं मिल सकती।"

उत्तर सुनकर श्रोताओं में घोर शांति छा गई।

वासवदत्ता उस शांति के वक्ष को विदीर्ण करती हुई दर्प से मन-ही-मन बोली, 'श्रेष्ठ भिक्षु ! किसी यौवन से तुम्हारा सम्पर्क नहीं हुआ है। युवती के रूपांतरों से तुम अनभिज्ञ हो। ज्ञान व ध्यान की बातें करने वाले जीवन के उस भेद से भिज्ञ नहीं होते, जिस भेद के तनिक आभास मात्र से ज्ञानी, ध्यानी और त्यागी अपने अस्तित्व को विस्मृत करके एक प्रमाद में मत्त होकर पतन के गहन गह्वर में गिर पड़ते हैं।'

इतना विचार करके वासवदत्ता अपनी शिविका से उतरकर वेदी की ओर अग्रसर हुई।

समस्त जनपद का ध्यान उस सुन्दरी पर केन्द्रीभूत हो गया। मत्तगामिनी-सी शनैः-शनैः डग उठाती वासवदत्ता वेदी की ओर बढ़ रही थी। जनपद स्वतः ही उसे पथ दे रहा था।

देखते-देखते वासवदत्ता भिक्षु के सम्मुख आ खड़ी हुई।

भिक्षु विस्मय से वासवदत्ता की ओर देखने लगे और स्वयं वासवदत्ता उसे अनिमेष दृष्टि से इस भांति देख रही थी, जैसे अपनी दृष्टि द्वारा हृदय की सकल मनोभावना उड़ेलना चाहती हो।

एक क्षण व्यतीत हुआ ही होगा कि भिक्षु ने शांत भाव से पूछा, "भद्रे ! तुम्हारी भी कोई शंका है ?"

"भन्ते ! यदि भिक्षु नारी को इन्हीं रूपों में ग्रहण करके कल्याण समझता है, तो वह नारी क्या करेगी, जो किसी भिक्षु

स्तुति, सुख-दुःख और जीवन-मरण आदि द्वंद्वों की चिन्ता से निश्चित रहो, न्याय और संतोष को अपना भाग्य विधाता समझो, दुःख से कदापि भय मत खाओ। उस की इतनी उपेक्षा करो कि मानो उसका कोई अस्तित्व ही नहीं है।" इतना कह भिक्षु उपगुप्त मौन हो गए।

एक श्रोता-जिज्ञासु ने उच्च स्वर में पूछा, "भन्ते ! अहम् क्या है ?"

उपगुप्त गम्भीरता से प्रश्न का उत्तर देने लगे, "अहम् एक भ्रम है, एक पतन है और एक स्वार्थ है। प्राणी को इससे उतना ही बचना चाहिए, जितना एक प्राणी के प्रहार से।"

जन-समूह में एक प्रकांड पंडित थे। उन्होंने तीव्र स्वर में प्रश्न किया, "भन्ते ! संघों में भिक्षुणियां भी रहती हैं। बौद्ध धर्म के मतानुसार वे किस दृष्टि से देखने योग्य हैं ?"

इस प्रश्न के संग प्रश्नकर्त्ता पर भिक्षु की दृष्टि स्थिर हो गई और रुक गई पैनी दृष्टि वासवदत्ता की भिक्षु के सुषमामयी तेजस्वी आनन पर।

वासवदत्ता ने देखा, अलौकिक मुख-मण्डल पर सात्विक तथा शान्त सौंदर्य छलक रहा है। मुंडन की हुई मुखाकृति, दीर्घ उन्नत-वक्षस्थल और मांसल तन उसके पूर्ण स्वस्थ होने के प्रतीक हैं।

उसने यह भी देखा कि आचार्य उपगुप्त के चेहरे के भाव जैसे कह रहे हैं कि प्रश्न का उत्तर देकर हम प्रश्नकर्त्ता के अज्ञान पर दया कर रहे हैं।

अपने हाथ को शून्याकाश की ओर उठाते हुए उपगुप्त बोले, "बौद्ध धर्म ने नारी को त्रियारूप में अंगीकार किया है। प्रत्येक भिक्षु जो बौद्ध धर्म की दीक्षा पूर्णरूपेण ले चुका है, वह तथागत के आदेशानुसार बालिका को पुत्रीरूप, युवती को भगिनीरूप तथा स्त्री को मां स्वरूप मानेगा। महाप्रभु का आदेश है कि प्रत्येक

भिक्षु मनसा, वाचा, कर्मणा इस मान्यता को माने। यदि वह इस आदेश के प्रति तनिक भी अनुत्तरदायी रहेगा अथवा अपने मानस में कलुष उत्पन्न करेगा, वह तथागत के संग-संग अपनी आत्मा से भी छल करेगा और अपनी आत्मा से छल करने वाला महापातकी होता है। उसे ऐहिक जीवन में कभी भी शांति नहीं मिल सकती।"

उत्तर सुनकर श्रोताओं में घोर शांति छा गई।

वासवदत्ता उस शांति के वक्ष को विदीर्ण करती हुई दर्प से मन-ही-मन बोली, 'श्रेष्ठ भिक्षु! किसी यौवन से तुम्हारा सम्पर्क नहीं हुआ है। युवती के रूपांतरों से तुम अनभिज्ञ हो। ज्ञान व ध्यान की बातें करने वाले जीवन के उस भेद से भिज्ञ नहीं होते, जिस भेद के तनिक आभास मात्र से ज्ञानी, ध्यानी और त्यागी अपने अस्तित्व को विस्मृत करके एक प्रमाद में मत्त होकर पतन के गहन गह्वर में गिर पड़ते हैं।'

इतना विचार करके वासवदत्ता अपनी शिविका से उतरकर वेदी की ओर अग्रसर हुई।

समस्त जनपद का ध्यान उस सुन्दरी पर केन्द्रीभूत हो गया। मत्तगामिनी-सी शनैः-शनैः डग उठाती वासवदत्ता वेदी की ओर बढ़ रही थी। जनपद स्वतः ही उसे पथ दे रहा था।

देखते-देखते वासवदत्ता भिक्षु के सम्मुख आ खड़ी हुई।

भिक्षु विस्मय से वासवदत्ता की ओर देखने लगे और स्वयं वासवदत्ता उसे अनिमेष दृष्टि से इस भांति देख रही थी, जैसे अपनी दृष्टि द्वारा हृदय की सकल मनोभावना उड़ेलना चाहती हो।

एक क्षण व्यतीत हुआ ही होगा कि भिक्षु ने शांत भाव से पूछा, "भद्रे! तुम्हारी भी कोई शंका है?"

"भन्ते! यदि भिक्षु नारी को इन्हीं रूपों में ग्रहण करके कल्याण समझता है, तो वह नारी क्या करेगी, जो किसी भिक्षु

के प्रणय-बन्धन में अखण्ड रूप से आबद्ध हो गई है, फिर संसार-चक्र कैसे चलेगा ?"

"वह नारी यदि उसमें प्रणय शक्ति का अजस्र स्रोत प्रवाहित हो रहा है, तो अपने प्रणय-प्रभाव से उस भिक्षु को पुनः साधारण गृहस्थ बना लेगी। यदि वह युवती इस कार्य में अनुत्तीर्ण रहती है, तब उसे चाहिए कि वह अपने प्रेम में महान् अध्यात्मवाद का समावेश करे। प्रेम में वासना की ज्वाला को नहीं, अपितु ज्ञान के उस आलोक का दर्शन करे, जो प्राणी की भावना को कल्याण की परिधि तक पहुंचा दे, ताकि उस प्रेयसी का प्रेम काषाय वस्त्रधारी भिक्षु के लिए भी ग्राह्य हो।"

"और स्पष्ट कीजिए भन्ते।" वासवदत्ता ने तुरन्त कहा।

"तब उसका प्रेम संसारी प्रेम की परिधि से उठकर अपने प्रेमी को देवता स्वरूप समझने लगेगा और भिक्षु उस प्रेम को प्रेम नहीं, एक साधना समझेगा, साधना भी अपनी नहीं, उस प्रेमिका के कल्याण हेतु भगवान् तथागत की कि इस प्रेम-अर्चिका को निर्वाण प्राप्त हो। रहा भिक्षु ! वह सच्चा है, तो उस नारी को उसी दृष्टि से देखेगा, जो उसके मत में मान्य है।"

"और यदि नारी उससे संसारी प्रेम की अपेक्षा करे तो.?"

"यह उसकी बड़ी भूल होगी। वह एक मरीचिका को प्राप्त करने के लिए अपना अन्त कर देगी, बिना कोई निष्कर्ष निकाले ही।" इस बार भिक्षु के लोचनों में अदम्य ज्योति दीप्त थी। पुनः बोला, "जो अपने धर्म व सिद्धांतों में अखंड विश्वास रखता है, जिसने नश्वर काया की वास्तविकता का ज्ञान पा लिया है, जो सांसारिक प्रेम की वितृष्णा से परिचित है, वह तो प्रभु के बताए हुए पथ पर ही चलेगा। वह संसार से ज्यादा अपनी आत्मा के निर्वाण के लिए प्रयत्नशील रहेगा। ध्यान से सुनो, जो क्षणभंगुर है, वह ग्राह्य नहीं। मेरे कथन के मर्म को समझने की चेष्टा करो।"

वासवदत्ता रीझ गई भिक्षु पर, भिक्षु के अंग-प्रत्यंग पर, उसके अप्रतिम सौंदर्य पर। तब वासवदत्ता कर आबद्ध करके बोली, "आप मेरा आतिथ्य स्वीकार करेंगे ?"

"क्यों नहीं ?"

"मैं गणिका हूं !"

"बौद्ध मतावलम्बी जातीय भेद नहीं मानते, क्योंकि तथागत समदृष्टि सिद्धांत के प्रणेता हैं ।"

जाते-जाते वासवदत्ता ने कहा, "आप कब पधारेंगे ?"

"कल प्रभात-वेला ।"

"भन्ते ! ध्यान रखिएगा कि मैं तत्काल आपके स्वागत हेतु तत्पर रहूंगी ।" कहकर वासवदत्ता ने उन्हें प्रणाम किया।

भिक्षु ने उसे सांसारिक वन्धनों से मुक्त होने का आशीर्वाद दिया। इसके पश्चात् सभा समाप्त हो गई। जन-समूह में एक आंदोलन-सा मच गया। वासवदत्ता अपने रथ पर आरूढ़ हो गई। सारथी ने रथ हांक दिया। उसके हृदय में आज एक नवीन हलचल थी, जिज्ञासा थी, मोहाकर्षण था, भिक्षु के प्रति।

"आजकल तुम अत्यन्त चतुर बनती जा रही हो।" मनु वासवदत्ता के कर-कमल से मधु-चषक लेते हुए बोला।

"संदेह का कोई उपचार नहीं है प्रिय !" वासवदत्ता ने अनिच्छा से उत्तर दिया।

"उपचार कैसे हो रूपसी !" मनु ने हठात् कहा, "प्रीति-भोज में धन व्यय करने के पश्चात् भी मैं तुम्हारे शत्रु को नहीं पहचान सका और न ही तुमने मुझे बताया।"

"मनु ! हर बात बताने की नहीं होती है।" वासवदत्ता की प्यार से ओतप्रोत अंगुलियां मनु के कुन्तलों में उलझ गई। उसकी उन्मन पलकों में अथाह अवसाद दीप्त हो उठा। वह

मद्धिम स्वर में बोली, "तुमने उसे पहचाना नहीं, इसका मुझे आश्चर्य और दुःख दोनों हैं; लेकिन मैंने अपने उद्देश्य की पूर्ति कर ली है। शत्रु को दण्ड दिला दिया है, उससे प्रतिशोध ले लिया है, ज्ञात नहीं। धन व श्रीहीन वह युवक अभी कहां और किस दयनीय दशा में होगा।"

मनु यह सुनकर अवाक् रह गया, "क्या कहती हो वासवदत्ता !"

"जो कहती हूं, सत्य कहती हूं मनु ! मैं जिसको दण्डित कराना चाहती थी, वह दण्डित हो चुका। मैं विजयोल्लास में मग्न हूं और वह पराजय के पंक में पीड़ित-प्रताड़ित होगा कहीं, किसी स्थान पर।" और वासवदत्ता के अन्तर में कोई बोल उठा, 'राहुल पराजित नहीं हुआ है। वह जीत गया है।'

तत्काल वासवदत्ता का व्यवहार ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे वह मनु से हार्दिक प्रेम करती है। और मनु के नेत्र करुणा से दहक रहे थे। मांग रहे थे, अपने अन्तर की विपुल वासना की तृप्ति और संतुष्टि।

अप्रत्याशित नाट्य-अभिनेत्री की भांति विहंसी कोकिल-कंठी, "तुम अत्युत्तम चतुर व्यापारी हो।"

"कैसे ?"

"धन के परिवर्तन में तन का क्रय करना तुम्हारा मूलमंत्र है, कदाचित् जीवनोद्देश्य है, कौटुम्बिक परम्परा है।" वासवदत्ता विहंस रही थी।

"नहीं-नहीं, ऐसा न कहो प्रिय ! मनु के हृदय में ऐसा हेय विचार उत्पन्न ही नहीं हो सकता।"

"मैं कैसे मानूं ? जब रात्रि वेला में समस्त वातावरण पूर्ण यौवन से आलोड़ित है, तुम्हारे ऊपर शुभ्र चन्द्र, समीप चन्द्र की मादक ज्योत्स्ना, यत्र-तत्र-सर्वत्र पुलकित करने वाली मलय-पवन—ऐसे सुंदर क्षणों में तुम यौवन के अतृप्त आनन्द की चिर

हिंस्र जन्तु थे। वे चाहते थे, मेरे सौंदर्य को विकृत करना। इस मंगलामुखी के समक्ष चंद चांदी की मुद्राएं फेंककर उसे अपने जाल में फंसाना, फिर इस तन के उज्ज्वल सौंदर्य को अपनी वासना के मर्म आघातों से निस्तेज कर देना; पर वे ऐसा नहीं कर सके।"

कुछ क्षण पूर्व जो उसके मुख पर सुलभ भाव थे, अब वे उस बन्दी सैनिक के तप्त आवेगों के रूप में बदल गए थे, जिसकी परवशता पर अन्य सैनिक कृत्रिम सहानुभूति प्रकट करते हैं पर उस सहानुभूति का फल कुछ भी नहीं निकलता है।

वासवदत्ता ने पुनः कहा, "क्योंकि मैं भी अपना भविष्य सुरक्षित रखना चाहती हूं, मैं जानती हूं कि जब तक यह रूप है तब तक सब है, जब यह रूप नहीं होगा, तो कोई भी यहां नहीं होगा।"

"ऐसा न कहो।" मनु बोला पर उसकी आत्मा ने उससे कहा, 'तुम्हारे अन्तर की बात जान ली है इसने ?'

"क्यों न कहूं ?" वासवदत्ता बोली।

"इसलिए कि मैंने तुम्हारी प्रत्येक इच्छा को पूर्ण किया है।"

"और उस समय तक करते रहोगे, जब तक मैं तुम्हारी केवल एक इच्छा को पूर्ण न करूं ?"

"लेकिन मेरे बारे में तुम्हें ऐसे कुविचार नहीं रखने चाहिए।"

"क्यों नहीं ?"

"क्योंकि मैं तुमसे आत्मिक अनुराग रखता हूं।"

"आत्मिक अनुराग की परिभाषा भी जानते हो ?"

प्रश्न जटिल था, अतः मनु आश्वस्त होता हुआ बोला, "आत्मिक अनुराग की परिभाषा यही है कि मैं तुम्हें जीवन-भर तन, मन और धन से अपनाकर रखूं।"

"और तुम्हारी पत्नी ?"

"वह तनिक बाधक नहीं बन सकती। हम सामंत हैं। विलास के सागर में आनन्द लेना हमारी परम्परा है। हम कई स्त्रियां रख सकते हैं।"

"इसलिए ही तो कहती हूं कि तुम मेरा उपभोग कर सकते हो, ग्रहण नहीं कर सकते।" वासवदत्ता संयत स्वर में बोली, "मनु ! यदि तुम मेरा प्यार वास्तव में पाना चाहते हो, तो अपनी पत्नी का परित्याग करना पड़ेगा, ताकि तुम्हारा प्यार अजस्र धारा की भांति केवल मेरे अन्तःकरण की वसुन्धरा पर प्रवाहित हो।"

मनु मौन रहा। उसे वासवदत्ता पर रोष आया, "तुम ऐसा प्रश्न कर देती हो, जिसका समाधान दुर्लभ होता है।"

"सामंत ! जब सत्य नग्न होकर व्यक्ति के सम्मुख आता है, तो व्यक्ति तिलमिला उठता है। कहना जितना सहज है, करना उतना ही दुष्कर। यहां आगंतुक श्रेष्ठ अभिनय कर सकता है, प्रभावशाली संवाद बोल सकता है, पर वह ऐसी वस्तु नहीं दे सकता, जिसकी मुझे आवश्यकता है।"

मनु हतप्रभ-सा वासवदत्ता की ओर निहारता रहा।

उसने देखा और देखकर समझा कि आज इस शारदीय पूर्णिमा-सी सुधामयी मोहिनी के मुख पर व्यथा का विपुल विषाद घोर आंदोलन कर रहा है। हृदय भयंकर विस्फोट करने वाला है, यह उसके नयन बता रहे थे।

और कुछ ही देर बाद उसने देखा कि उसकी उन्मन आंखें निर्झरिणी बन गई हैं। तब मनु झल्ला पड़ा, "आखिर तुम चाहती क्या हो ?"

"मैं चाहती हूं, वह मन-मंदिर जहां राम हो और राम के साथ निर्भय सीता। मैं चाहती हूं, वह सरोवर, जहां प्रणय पंकज अपनी समस्त कलाओं के साथ विकसित हो और यदि उसे सूर्य

रश्मियों के सिवाय कोई स्पर्श भी कर ले तो मुरझा जाए। मैं चाहती हूं, वह हृदय जिसकी धड़कनों से यदि मैं अपनी धड़कन मिलाऊं, तो विचारों में कोई आघात न लगे; लेकिन मैं देखती हूं, यहां आने वाले व्यक्ति मुझ जैसी लाचार नारी को अपनी पिपासा की शांति का उपाय समझते हैं। वे समझते हैं कि इसका कुन्दन-सा तन केवल उपभोग के लिए है। हमारी उस वासना की तृप्ति के लिए है, जो समय-समय पर ज्वार-सी उठती है। इसके साथ-साथ तुम्हारे देश के धर्म, समाज और सत्ता के स्वामियों ने मुझे तो सामाजिक उपभोग की वस्तु बना डाला है और मेरी गृहिणी की सभी कामनाओं का न्यायिक रूप से निषेध कर दिया।" वासवदत्ता के हृदय का रोष नयन-नीर बनता ही गया, "यह हृदय इतना त्रस्त हो चुका है कि कभी-कभी अपने बाह्य सौंदर्य से तुम्हारे देश, धर्म, समाज और सत्ता का सर्वनाश कर देना चाहता है। विचारों में संघर्ष की भावना उठती है, जो निष्कर्ष में परिवर्तित होती-होती निर्बल हो जाती है और मैं प्रतिशोध लेते-लेते रुक जाती हूं; पर अब रुकूंगी नहीं श्रीमंत! इस वैभव के चतुर्दिक् आवर्तन में एक ज्वाला जलाना चाहती हूं और इसको भस्मीभूत करके कहीं दूर पलायन करना चाहती हूं।"

क्षण-भर का अन्तराल।

"मनु!" वासवदत्ता के अश्रु पूर्णवेग से बहने लगे, "पथ का साधारण व्यक्ति भी मेरे प्रेम को एक अभिनय समझता है। वह कहता है, गणिका किसी की पत्नी नहीं हो सकती है। वह प्रेम करना क्या जाने।...और मनु! छल, मिथ्या प्रतिज्ञाएं, निराधार विश्वास और प्रपंची प्रेम से अब मैं ऊब चुकी हूं। अब मैंने सोच लिया है कि गणिका का जीवन अभिशप्त अंगारों की धारा पर चलता हुआ अन्त में जरा के पंक में सिसकता-सिसकता समाप्त हो जाता है, इसलिए मेरे पास अपार संपत्ति होनी

रश्मियों के सिवाय कोई स्पर्श भी कर ले तो मुरझा जाए। मैं चाहती हूं, वह हृदय जिसकी धड़कनों से यदि मैं अपनी धड़कन मिलाऊं, तो विचारों में कोई आघात न लगे; लेकिन मैं देखती हूं, यहां आने वाले व्यक्ति मुझ जैसी लाचार नारी को अपनी पिपासा की शांति का उपाय समझते हैं। वे समझते हैं कि इसका कुन्दन-सा तन केवल उपभोग के लिए है। हमारी उस वासना की तृप्ति के लिए है, जो समय-समय पर ज्वार-सी उठती है। इसके साथ-साथ तुम्हारे देश के धर्म, समाज और सत्ता के स्वामियों ने मुझे तो सामाजिक उपभोग की वस्तु बना डाला है और मेरी गृहिणी की सभी कामनाओं का न्यायिक रूप से निषेध कर दिया।" वासवदत्ता के हृदय का रोष नयन-नीर बनता ही गया, "यह हृदय इतना त्रस्त हो चुका है कि कभी-कभी अपने बाह्य सौंदर्य से तुम्हारे देश, धर्म, समाज और सत्ता का सर्वनाश कर देना चाहता है। विचारों में संघर्ष की भावना उठती है, जो निष्कर्ष में परिवर्तित होती-होती निर्बल हो जाती है और मैं प्रतिशोध लेते-लेते रुक जाती हूं; पर अब रुकूंगी नहीं श्रीमंत ! इस वैभव के चतुर्दिक् आवर्तन में एक ज्वाला जलाना चाहती हूं और इसको भस्मीभूत करके कहीं दूर पलायन करना चाहती हूं।"

क्षण-भर का अन्तराल।

"मनु !" वासवदत्ता के अश्रु पूर्णवेग से बहने लगे, "पथ का साधारण व्यक्ति भी मेरे प्रेम को एक अभिनय समझता है। वह कहता है, गणिका किसी की पत्नी नहीं हो सकती है। वह प्रेम करना क्या जाने।...और मनु ! छल, मिथ्या प्रतिज्ञाएं, निराधार विश्वास और प्रपंची प्रेम से अब मैं ऊब चुकी हूं। अब मैंने सोच लिया है कि गणिका का जीवन अभिशप्त अंगारों की धारा पर चलता हुआ अन्त में जरा के पंक में सिसकता-सिसकता समाप्त हो जाता है, इसलिए मेरे पास अपार संपत्ति होनी

चाहिए और तत्काल मेरे पास धन होगा, तो मेरा जीवन सुखी होगा अन्यथा मेरे लिए श्वान-मृत्यु निश्चित है। जो मुझे कहता है, मैं तुमसे प्रेम करता हूं, उसे मैं सबसे बड़ा छली समझती हूं। जो मुझे कहता है, मैं तुम पर सर्वस्व अर्पण करना चाहता हूं, उसे मैं सबसे बड़ा स्वार्थी समझती हूं और ..."

वासवदत्ता इसके आगे कुछ बोले कि मनु उठकर द्वार की ओर बढ़ा। वासवदत्ता उसे रोकती हुई बोली, "जा क्यों रहे हो मनु !"

"मैं कल आऊंगा।" कहकर मनु द्वार से बाहर हो गया।

वासवदत्ता अट्टहास करके शय्या पर विक्षिप्त-सी पड़ गई। सो गई।

नवीन प्रभात नूतन आशा लेकर आया। आज वासवदत्ता अत्यन्त व्यग्रता से अपने विशाल भवन के तोरणद्वार पर खड़ी-खड़ी आचार्य उपगुप्त की प्रतीक्षा कर रही थी। उसकी आंखें बार-बार उससे एक प्रश्न कर बैठती थीं कि उपगुप्त का सौंदर्य कितना अद्वितीय और अलौकिक है !

दो दंडपांशुल आज नवीन वसन पहने बड़ी सतर्कता से पहरा दे रहे थे।

भवन की समस्त परिचारिकाएं आज स्फूर्ति से भवन को और भवन के प्रत्येक कक्ष को सज्जित करने में तन्मय थीं। समस्त कक्षों में सुगन्ध फैली हुई थी।

तोरणद्वार पर दो लावण्यमयी युवतियां पुष्पों के थालों में पुष्प सज्जित किए स्वागतार्थ खड़ी थीं। इन दो युवतियों के आगे दो अन्य युवतियां खड़ी थीं, जो अतिथि के आगमन पर अपने आंचलों से पथ की धूलि झाड़ेंगी। इसके साथ कई और परिचारिकाएं थीं जो अपने-अपने कर्तव्यों का पालन करने हेतु अत्यन्त तत्पर दीख रही थीं।

नियत समय पर प्रतिहार ने आकर संवाद सुनाया कि बौद्ध-भिक्षु आचार्य उपगुप्त पधार गए हैं। वे नितांत एकाकी हैं। संवाद सुनते ही वासवदत्ता ने दण्डपांशुलों तथा परिचारिकाओं को सावधान किया और स्वयं द्रुतगति से अपने शृंगार-कक्ष में आ गई।

गर्विता नायिका की भांति आज उसने पल-भर के लिए दर्पण में अपने मुख को देखा, स्वयं अपने पर मुग्ध हो गई। उसके गौरवर्ण पर स्वर्णिम आभा ऐसे छिटक रही थी, जैसे अर्धविकसित चम्पा की कुसुम पर। उसके काली घटा की भांति उमड़े घने कुन्तल उसके स्निग्ध कन्धों पर लहरा रहे थे। प्रतीक्षारत खंजन-नयन अनुराग से अपनत्व की नयी सृष्टि की रचना कर रहे थे।

किंचित् मोहक स्वर में वासवदत्ता अपने-आप बोली, "यदि सौंदर्य का आदान-प्रदान सौंदर्य हो जाए तो कितना श्रेष्ठ हो ?"

तोरणद्वार के दण्डपांशुल ने भिक्षु के आगमन का समाचार उच्च स्वर में पुनः सुनाया। वासवदत्ता द्रुतगति से द्वार की ओर भागी।

भगवान् बुद्ध के परम आदर्शों के श्रेष्ठ प्रतीक आचार्य उपगुप्त ने काषाय वस्त्र पहन रखे थे। भवन-प्रवेश करते ही वासवदत्ता ने उनके चरण स्पर्श किए। उपगुप्त ने उसे आशीर्वाद दिया।

वासवदत्ता को आभास हुआ, इस दिव्य पुरुष की चरण-रज से यह भवन एक अलौकिक आभा से आलोकित हो गया है। इन निर्जीव पाषाणों में एक अदृश्य जीवन संचारित हो उठा है। उसने हाथों से भवन में प्रवेश करने का संकेत किया, आचार्य उपगुप्त को।

महाप्रभु के पथ के कर्त्तव्यपरायण-वीतरागी भिक्षु के चरण

भिक्षु से मेरा प्रेम-संबंध हो गया है, जिसकी मधुर स्मृतियों का आंदोलन मेरे जीवन के हर क्षण में होता है और होता रहेगा; पर····।"

"यह बात है, तो तुम्हारा प्रयत्न विफल होगा भद्रे ! अपने को परिवर्तित करने का प्रयास करो। अप्राप्य वस्तु के पीछे भागना बुद्धिमानी नहीं। अमूल्य जीवन को निरुद्देश्य व्यतीत करके अल्पकाल के पश्चात् तुम्हें केवल पश्चात्ताप ही करना पड़ेगा। व्यर्थता का बोध होगा।"

"नहीं, भिक्षु ! मैं उसे प्रेम-सिंचित कर से स्पर्श करती हूं।" कहकर वासवदत्ता ने आचार्य उपगुप्त का हाथ अपने हाथ में ले लिया, "पर वह मुझे किस भावना से स्पर्श करने देता है, इससे मैं अज्ञात हूं।"

इन्द्रिय-विजित भिक्षु के चेहरे पर उस स्पर्श से तनिक भी परिवर्तन नहीं आया। उनके नेत्र अचंचल थे जैसे पाषाण। वह शांत थे। जैसे शून्य स्थान। वह नेत्र मूंदकर संयत स्वर में बोले, "मन पाप का आगार है। यदि इस आगार को श्रेष्ठ व सद्विचारों से पूर्ण कर लिया जाए, तो कलुष को प्रश्रय पाने का स्थान ही नहीं मिलेगा।"

भिक्षु ने जब वाक्य समाप्त किया, तब वासवदत्ता ने उसकी ओर निहारा। चौड़े भाल पर दिव्य आलोक दीप्त था। उस आलोक के कारण उसका यौवन और स्वर्गीय देव-सा तन निश्छल लगने लगा था। वासवदत्ता उसके सौंदर्य पर मुग्ध हो गई। विमूढ़-सी वह भिक्षु के चरणों को सहलाने लगी। भिक्षु जड़वत् रहा, गतिहीन रहा।

तपाक् से बोला, "स्पर्श करने के पूर्व स्पर्श की भावना पर प्रकाश डालो भद्रे !"

"भावना वही है, जिसकी साधना आज मेरे मानस-मंदिर में घोर आंदोलन कर रही है।"

"उस साधना पथ के अन्त के सत्य को जानना चाहता हूं।"

"कार्य परिणाम का द्योतक है। अतः भिक्षु ! निर्विरोध रहो और मुझे अपना कार्य करने दो।"

"नहीं, मैं इस बात का अभ्यस्त नहीं कि सार को असार समझूं और असार को सार, अस्पष्टता के रहस्य में बद्ध होना मेरा लक्ष्य नहीं है अतः जो सत्य है, उससे मैं भिज्ञ होना चाहता हूं।"

अवाक् हो देखता रहा भिक्षु वासवदत्ता को और वासवदत्ता उसके नयनों में अपने नयन गाड़कर, कम्पित स्वर में बोली, "भिक्षु ! यह स्पर्श मेरे प्रणय का प्रथम चरण है।"

"तुम्हारे प्रणय का ?" भिक्षु हठात् वेदी से उठ गया।

"हां, भिक्षु ! संसार को अपने सौंदर्य से पराजित करने वाली यह सुन्दरी तुमसे प्रणय-दान मांगती है।"

"प्रणय !" उपगुप्त हंस पड़ा, "भिक्षुओं से भिक्षा की मांग सर्वथा अनुचित है। मांगना उसी से चाहिए, जिसके पास कुछ देने को हो। हम तो सर्वस्व प्रभु को दान दे चुके हैं। हमारे पास आशीर्वाद के अतिरिक्त कुछ नहीं है।"

"मैं उसी से मांग रही हूं, जिसके पास सर्वस्व है, कुबेर का भण्डार और दरिद्र के लिए दया।" वासवदत्ता उसकी ओर बढ़ी।

उपगुप्त शांत स्वर में बोले, "मुझे शिक्षा दो, मैं जाना चाहता हूं। समय का सदुपयोग मेरे लिए अनिवार्य है।"

"भिक्षा लोगे तुम ?" विचित्र भंगिमा थी सुन्दरी की।

"आतिथ्य-सत्कार को इसीलिए स्वीकार किया था।"

"फिर भिक्षा-पात्र बढ़ाओ।"

"लो।" भिक्षु का पात्र बढ़ा।

वासवदत्ता के युग्म कर पात्र पर विस्तृत हो गए। विस्मय-विमूढ़ भिक्षु ने वातुल वामाक्षी को देखा, "भद्रे ! भिक्षा प्रदान

करने वाले हाथ रिक्त क्यों ?"

"रिक्त !" वासवदत्ता ऐसे बोली जैसे इस शब्द में उपहास है, "कदाचित् संन्यासी को दृष्टि-भ्रम हो गया है।"

"मुझे दृष्टि-भ्रम हो गया है !" वे गंभीर हो गए।

"तभी तो मेरे परिपूर्ण हाथों को रिक्त बता रहे हो।"

"परिपूर्ण !···ओह ! अपने करों के आभूषण तुम मुझे भिक्षा में देना चाहती हो ?"

"नहीं, आभूषण तो तुम्हें श्रेष्ठि-पुत्र और सामन्त भी दे सकते हैं।"

"तो ?" नग की भांति चमक उठा विस्मय भिक्षु की आंखों में।

"भिक्षु ! इन रिक्त हाथों में एक दुर्लभ वस्तु है। यदि तुम्हारी आत्मा उसे पहचान सकती है, तो पहचानो ! अन्तर्मन के नेत्र खोलो !"

"रिक्त हाथों में अदृश्य वस्तु वासना है, क्यों, ठीक है न भद्रे !"

"वासना नहीं, प्रणय···केवल प्रणय ही नहीं, प्रणय से परिपूर्ण हृदय भी। हां, मैं तुम्हे इस हृदय का सम्राट् बनाना चाहती हूं।"

"उस सम्राट् की प्रजा कौन बनेगा ?"

"प्रजा ! हमारे हृदय के वेग, आवेग और संवेग, लालसाएं, भावनाएं, आशाएं, तृष्णाएं, ये सभी ही हमारी प्रजा बनेंगी। तुम्हारे सम्राट् होने पर विभुता विप्लव की भांति हमारे जीवन में उद्वेलित होगी, बोलो भिक्षु ! स्वीकार करते हो ?"

"हां, वासवदत्ता ! मैं तुम्हारे प्रणय-दान को स्वीकार करूंगा।"

"इन कानों को विश्वास नहीं होता।"

"मैं भी असत्य भाषण नहीं करता।"

"तो फिर मैं···?"

"लेकिन अभी नहीं, समय से पूर्व मैं किसी का भी प्रणय-दान स्वीकार नहीं कर सकता।"

"तो फिर कब आओगे यहां ?"

"एक वर्ष पश्चात् !"

"प्रतीक्षा करूं ?"

"महाप्रभु के शिष्य मिथ्या भाषण नहीं करते। किसी को विश्वास देकर विश्वासघात नहीं करते।"

"बैठो, भिक्षु !" वासवदत्ता ने वेदी की ओर संकेत किया, "भोजन से निवृत्त होकर एक बार मेरा नृत्यावलोकन तो कर लो।"

"नहीं, भद्रे !"

"क्यों ?"

"तुम्हारे आतिथ्य का समय समाप्त हो गया। अब मुझे अन्य स्थान पर प्रवचन देने जाना है।" इतना कहकर उपगुप्त तोरणद्वार की ओर अग्रसर हुए। पीछे थी वासवदत्ता। अपने मन के धैर्य के लिए जाते-जाते भिक्षु से पूछा, "प्रतिज्ञा विमुख तो नहीं होगे ?"

"विश्वास रखो।"

"चरणों में प्रणाम।"

"कल्याण हो।"

तत्पश्चात् भिक्षु उपगुप्त के अधरों पर गूंज पड़ा— बुद्धं सरणं गच्छामि। धम्मं सरणं गच्छामि। संघं सरणं गच्छामि।

मनु ने गृहलक्ष्मी के प्रार्थना-भरे शब्दों को अनसुना कर दिया।

क्रोध में रौद्र बना चरणों में धराशायी गृहलक्ष्मी पर मनु ने तीव्र पदाघात किया। जन्मजात संस्कारों में पली 'पति-पर-

मेश्वर' के सिद्धांत की पोषिका गृहलक्ष्मी पदाघात खाकर तिल-मिलाई नहीं, अपितु करुण क्रन्दन करने लगी, "मेरे प्रभु ! मुझे क्षमा कर दीजिए कि मैंने आपसे धृष्टता की। मैंने आपका विरोध करते समय बस, इतना ही सोचा था कि आप मेरे पति हैं, केवल पति, न कि एक अभिजात वर्ग के प्रतिनिधि, एक सामन्त-पुत्र, एक आर्यपुत्र जो हर वस्तु का स्वतन्त्रता से उपभोग भी कर सकता है। स्त्री जिसके लिए, अर्धांगिनी नहीं, भोग्या है।"

गृहलक्ष्मी की प्रार्थना मनु ने स्वीकार कर ली। उनका क्रोध शांत हो गया, "भविष्य में ऐसी गलती न हो।"

आज प्रातःकाल मनु की निद्रा और दिनों की अपेक्षा अधिक देर से भंग हुई थी। नगर में प्रवासी व्यवसायियों का आवा-गमन होना प्रारम्भ हो गया था। गृहलक्ष्मी भी भगवद् भजन में निमग्न थी। तभी दण्डपांशुल ने आकर कहा, "स्वामी से एक प्रवासी व्यापारी भेंट करना चाहता है।"

गृहलक्ष्मी ने दण्डपांशुल को कहा, "उनको अतिथिशाला में ठहराओ और कहो कि वे अभी सो रहे हैं।"

दण्डपांशुल चला गया। गृहलक्ष्मी पुनः भगवद्भजन में तन्मय हो गई।

पांच पल ही बीते होंगे कि दण्डपांशुल ने आकर पुनः निवे-दन किया, "वे स्वामी से अभी ही भेंट करना चाहते हैं, कहते हैं कि उनका उनसे एक अत्यावश्यक कार्य है।"

गृहलक्ष्मी ने दण्डपांशुल की बात सुनकर अत्यन्त संयत स्वर में कहा, "आगन्तुक से निवेदन करके कहो कि उनकी विशेष आज्ञा है कि जब वे निद्रा में हों, तो उन्हें कोई नहीं जगाए। इसीलिए उन्हें प्रतीक्षा करना अनिवार्य है।"

दण्डपांशुल चलने को उद्यत हुआ ही था कि देविका ने आकर कहा, "स्वामी जाग गए हैं। शौचादि से निवृत्त होने भी

चले गए हैं।"

"उन्हें जाकर यह संवाद तो सुना दोकि एक प्रवासी अतिथि आपसे भेंट करने को व्यग्र है।"

"जो आज्ञा !" देविका चली गई।

अल्पकाल के पश्चात् प्रवासी व्यापारी ने, जो वेशभूषा से दक्षिणांचल का जान पड़ता था, मनु से भेंट की।

सर्वप्रथम व्यापारी ने संक्षेप में अपना परिचय दिया। अपनी विशेषताओं और अनुभवों पर प्रकाश डाला, तब मनु से अपने व्यापार की बात करने लगा, "देखिए श्रीमन्त ! मेरे पास एक अत्यन्त लावण्यमयी युवती विक्रय के लिए है और मैंने सुना है कि श्रेष्ठ वस्तु आपके यहां सहजता से विक्रय की जा सकती है।" इतना कह व्यापारी ने चतुर्दिक् दृष्टिपात किया।

"हां, मैं दासियों का क्रय अवश्य करता हूं, पर वस्तु श्रेष्ठ होनी चाहिए। वह भी सभी दृष्टिकोणों से।" मनु की दृष्टि व्यापारी के चरणों पर टिकी हुई थी।

व्यापारी मनु के भावों को ताड़ता हुआ बोला, "श्रेष्ठ वस्तु ही श्रेष्ठ व्यक्तियों के पास लाई जाती है श्रीमन्त ! आप केवल एक दृष्टि-भर देख लीजिए। कथन कुछ और होता है और प्रत्यक्ष कुछ और।"

"जैसी आपकी इच्छा।" मनु के भाल में बल पड़ गए।

व्यापारी भवन से बाहर चला गया।

तोरणद्वार से पन्द्रह वर्षीय एक युवती ने प्रवेश किया। युवती साधारण गौरवर्ण की थी। इतनी गौरवर्ण की नहीं कि जितनी उत्तराखण्ड की युवतियां हुआ करती हैं, तो भी युवती दर्शनीय थी।

यौवन के उठते उद्दाम आवेग के कारण उसका अंग-प्रत्यंग उषाकाल की सुषमा लिए अरुणिम था। अंग सौष्ठव में दक्षिण

भारतीय स्त्रियों की मांसलता पूर्णतया विद्यमान थी। नयनों की मादकता आकुलता के कारण विचित्र-सी लग रही थी।

मनु ने लोलुपता-भरी दृष्टि से उस युवती को देखा। जिह्वा को सांप के फन की भांति कई बार अधरों पर दौड़ाया। तब मनु के ऐश्वर्यसम्पन्न मत ने कहा, 'यौवन !...पूर्ण यौवन !'

और युवती अज्ञात भयभीत कल्पना से किंकर्त्तव्य-विमूढ़-सी खड़ी थी।

मनु ने व्यापारी की ओर दृष्टि की। व्यापारी ने तात्पर्य को समझा, "युवती आज्ञाकारिणी है श्रीमन्त ! आपकी सेवा तन-मन से करेगी।"

"आप प्रस्थान कीजिए, अल्पकाल के उपरान्त आप यहां आकर अपना मूल्य ले जाइएगा; लेकिन युवती से कह दीजिए, हमारी अवज्ञा मृत्यु का आह्वान बन सकती है।"

प्रवासी व्यापारी युवती के निकट गया, "बाले ! आज से तुम्हारे स्वामी श्रीमन्त मनु हैं। सामन्त-पुत्र मनु की आज्ञा का पालन तुम्हारा धर्म है। तुम एक दासी हो, अतः एक दासी को अपने कर्त्तव्य को कदापि विस्मृत नहीं करना चाहिए।" बाला ने अपना मस्तक झुका दिया।

मनु ने परिचारिका देविका को बुलाकर आज्ञा दी, "इसे स्वच्छ वस्त्र पहना एवं पुष्पों से सज्जित करके आज अपराह्न-काल हमारे केलि-भवन में पहुंचा देना। शृंगार में किसी प्रकार के अभाव का भास न हो।"

जब गृहलक्ष्मी ने यह समाचार सुना, तो उसका रोम-रोम दहक उठा, तड़प उठा। मन में विचार दामिनी की भांति कौंधने लगे, 'अपने को सभ्य, शिष्ट और सत् कहने वाले सामन्त-पुत्र क्रीतदासियों के संग कितना अमानुषिक व्यवहार करते हैं कि मानवता तक कांप उठती है।'

आहत भुजंगिनी-सी फूत्कारती हुई गृहलक्ष्मी मनु के निकट गई और अधरों को दांतों से काटती हुई बोली, "प्रभु ! यह कैसा अत्याचार ?"

"अत्याचार !" हठात् मनु बोला, "कौटुम्बिक परम्परा को तुम अत्याचार कहती हो, आश्चर्य है !"

"यह परम्परा किसी के प्राण ले बैठेगी ।"

"मूढ़ता पर एक प्राण क्या सहस्र प्राण भी मिट सकते हैं। तुम ऐसे कार्यों का विरोध ही क्यों करती हो, जो हमारे लिए सदैव अपेक्षणीय रहे हों, जिन्हें तुम रोकने में सर्वथा असमर्थ हो ?"

"इस अपेक्षणीयता को आपको रोकना ही पड़ेगा। मैं आपकी पत्नी हूं और एक पत्नी अपने सामने इतना अनाचार होना कैसे देख और सह सकती है ?"

"इसका तात्पर्य तो यही हुआ कि तुम हमारी अवज्ञा करोगी ?"

"सर्वथा ।"

"जानती हो, मेरे मध्य प्राचीर बनकर आने वाले का विनाश निश्चित है ।" मनु का रोष तीव्र हुआ, "भला इसी में है कि पत्नी बनकर रहो, पति को परमेश्वर, उसके वचनों को ईश्वरी आज्ञा समझो ।"

मनु इतना कहकर गृहलक्ष्मी को घूरता-घूरता अतिथिशाला से बाहर हो गया ।

गृहलक्ष्मी भी अपने कक्ष में आकर बैठ गई। देविका को कम्पित स्वर में पुकारा, "देविका !"

"आज्ञा ।" देविका ने नत सिर होकर कहा ।

"जाओ, बाला को यहां ले आओ ।"

"जो आज्ञा ।" कहकर देविका जाने को प्रस्तुत हुई कि मनु का निर्मम स्वर सुनाई पड़ा, "इसकी कोई आवश्यकता नहीं

है। तुम उसका शृंगार करो।"

"शृंगार या संहार ?" गृहलक्ष्मी बोली।

"इतनी अशिष्टता है तुममें ?"

"जब नारी अपनी शालीनता का त्याग करके रणचण्डी का रूप धारण करती है तो...।" गृहलक्ष्मी आवेश में कांपने लगी।

"देविका ! तुम खड़ी-खड़ी क्या देख रही हो, जाओ।" मनु की आज्ञा पर देविका भयभीत-सी चली गई। मनु प्रहार करने हेतु गृहलक्ष्मी की ओर बढ़ा। गृहलक्ष्मी भयभीत नयनों से देख रही थी।

"मैं तुम्हें सदैव के लिए मिटा दूंगा।" मनु गरजा। तड़प उठा। उसके नेत्रों में हिंसा दहक उठी।

"मेरे प्रभु ! संयम से काम लीजिए।"

"प्रभु सम्बोधित करने वाली दुष्टा ! पति की अवज्ञा करते तुम्हें संकोच नहीं ? निर्बुद्धे कहीं की ! नारी होकर नारीत्व का त्याग करना तुम्हारी हेयता का प्रतीक नहीं ?...स्मरण करो, उस सती नारी की कथा, जो अपने अपंग पति को कन्धों पर बैठाकर प्रत्येक रात्रि को गणिका के यहां ले जाया करती थी और तड़के पुनः लाती थी।...और एक तुम हो, जो उसी के वंशज को आमोद-प्रमोद के लिए वर्जित करके उसके स्वाभिमान पर आघात करती हो।"

"पर...?"

"पर से किसी भी सुफल की प्राप्ति नहीं। तुम इस भवन में सुखी जीवन व्यतीत करना चाहती हो, तो चरण-दासी बन करके रहो अन्यथा मनु का कोप तुम जानती ही हो। तुम्हें प्राणों से हाथ धोना पड़ेगा।"

आतंकित गृहलक्ष्मी मनु के भयानक निश्चय से विचलित हो गई। पति परमेश्वर के चरणों में पड़कर क्षमा-याचना की

हो गई।

समय उड़ता जा रहा था। शयन-कक्ष में जैसे ही दीपिका ज्वलित हुई, वैसे ही वासवदत्ता ने शय्या पर सोते हुए निश्वास छोड़ा। उसका निश्वास इस बात का प्रतीक था कि सुन्दरी को किंचित् परिताप है। परिताप क्या था, प्रणय-परिभूत वासव-दत्ता के मन को शान्ति नहीं मिल रही थी। संध्या पर रजनी का अधिकार हो गया था। वासवदत्ता शय्या पर निढाल थी।

परिचारिका तिलोत्तमा ने प्रणत होकर पूछा, "आप भोजन कब करेंगी ?"

वासवदत्ता ने कहा, "आज मैं भोजन नहीं करूंगी।"

तिलोत्तमा मुंहलगी थी अतः तुरन्त बोली, "क्यों ?"

"सत्य भाषण करते भय लगता है। कदाचित् तुम भी मेरा परिहास कर बैठो।" प्रश्न-भरी दृष्टि तिलोत्तमा पर स्थिर थी।

"भृत्य स्वामी के संग ऐसी अशिष्टता थोड़े ही कर सकता है ?'

"तिलोत्तमा ! उपगुप्त की दिव्य आकृति मेरे मन में बस गई है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है, जैसे उसके बिना यह सौन्दर्य सारहीन है।"

"तो फिर ?"

"उसे अपने प्रणय-बन्धन में बद्ध करके उसको साधनाच्युत कर दूं। जानती हो, उसने मेरी, मेरे अनुपम रूप-यौवन की उपेक्षा की है, अतः उसे अपनी मादक दृष्टि से आहत करके अपना परमप्रिय बना लूं।"

"असम्भव है। वासना ने त्याग पर आज तक विजय नहीं पाई।"

"तुम तो सहज स्वभाव की हो। राजर्षि विश्वामित्र का

प्रभाव भी डालता है। अतः तुम्हीं पिलाओ।"

बाला की आकृति पर विक्षेपण नर्तन कर उठा। मनु चपक लेकर शय्या पर अर्धशायित हो गया।

कम्पित कर में चपक का मधु हिल रहा था। मनु ने एक पल उसे ध्यान से देखा, "दूर क्यों खड़ी हो, निकट क्यों नहीं आतीं? जानती नहीं, हम तुम्हारे स्वामी हैं?'

बाला निस्पन्द-सी मनु की शय्या के सन्निकट आई। मनु ने चपक वाला हाथ बाला के मुंह की ओर बढ़ाया और उसका दूसरा हाथ बाले की कटि प्रदेश के चतुर्दिक् व्याल की भांति लिपट गया।

"पियो न बाले?"

"यह पेय पतनोन्मुखी है।"

"एक किंकरी के लिए पतन-उत्थान दोनों ही बराबर हैं।"

बाला मौन हो गई। उसका आनन श्रीहत हो गया। पुरुष की पिपासा मधु की आहुति पाकर पैशाचिक क्षुधा-सी भयंकर हो गई। नारी कांप उठी। पुरुष की उत्तेजना बढ़ती गई। नारी, क्रीतदासी निर्विरोध रही। उसकी आत्मा में एक प्रभंजन उठा। पुरुष शंकित हो गया, पर उसके उर के प्रबल उद्दाम काम ने उसे और उकसाया। नारी विद्रोहिणी बन गई। पुरुष ने प्रमादियों-सा अट्टहास किया। नारी ने अपने सतीत्व की रक्षा हेतु भागने का प्रयास किया। पुरुष ने नारी के चतुर्दिक् प्राचीरें खड़ी कर दीं। नारी विवश हो गई। करुणा का आंचल उसने पुरुष के समक्ष विस्तृत कर दिया। पर पुरुष निर्दयी, निर्मोही और निर्मम निकला। नारी को नोचने के लिए वह आतुर हो उठा। परवश नारी ने प्रभु को पुकारा, अपने परित्राण के लिए। प्रभु नहीं आया लेकिन नारी ने बार-बार प्रभु को पुकारा। पर प्रभु एक बार भी नहीं आया। वह अपने परित्राण के लिए पुकारती रही, पुकारती रही और अन्त में अचेत

घोर तप मेनका के सौन्दर्य व स्वर पर इस प्रकार विमोहित हुआ, जिस प्रकार अहि वीन पर। शकुन्तला के अतुलनीय रूप पर आसक्त राजा दुष्यन्त अपनी अधीरता को अल्पकाल के लिए नहीं रोक सके और उन्होंने तुरन्त शकुन्तला से गांधर्व विवाह किया। तुम क्या जानो तिलोत्तमा ! और तो और, नारी-सौन्दर्य ने महर्षि नारद जी को भी वानर बनाकर नचा दिया।" इतना कहकर वासवदत्ता सव्यंग्य हंस पड़ी। पलकों को सभावार्थ झेंपाया, जैसे वह तिलोत्तमा से पूछना चाहती है कि अब तुम क्या उत्तर दोगी ?

वासवदत्ता पुनः बोली, "अब तुम्हीं बताओ, ऐसे पुरुषों का तप खंडन तथा मर्यादा भंग करने में कितनी देर लगेगी ?… पाप प्राणी को अपनी ओर तुरन्त आकर्षित कर लेता है।"

तिलोत्तमा एक अबोध श्रोता की भांति निश्चल बैठी रही, सुनती रही।

"मुझे ही देखो।" वासवदत्ता ने अपने-आप को संकेत किया, "मेरे सात्त्विक जीवन के समस्त साधन छीन लिए गए हैं। गृहलक्ष्मी को हाट की रानी बना दिया है। सेवा करके सृष्टि का संचालन करने वाली को यौवन विक्रय करने के लिए विवश कर दिया है।"

वासवदत्ता के कमलनेत्र तप्त अंगारों की भांति दहक उठे। तिलोत्तमा निस्सार निश्वास छोड़कर गमन करने को उद्यत हुई जैसे उसे इन बातों से कोई प्रयोजन नहीं, तनिक भी लगाव नहीं। उसके चले जाने के बाद वासवदत्ता भी किसी पीड़ा में जलती हुई जागृतावस्था में शय्या पर पेट के बल सो गई।

अभी तन्द्रा के मधुर झोंकों ने उसे सहलाया ही था कि तिलोत्तमा आई, "श्रीमन्त मनु पधारे हैं।"

वासवदत्ता के लोचन उपेक्षा से फैल गए, "जाकर कह दो कि वासवदत्ता नहीं है। वह जल-विहार करने के लिए…"

अपने निचले होंठ को काट लिया।

वासवदत्ता क्रोध के मारे चीख पड़ी, "मनु !"

मनु दुर्वासा बना, द्वार की ओर बढ़ा। उसके जाते ही वासवदत्ता चंद क्षणों तक मौन रही। मौन क्या रही, रोष ने उसके उर के घुटते भावों को प्रकट नहीं होने दिया। चंद क्षण निरुद्देश्य व्यतीत हुए।

तब वासवदत्ता तप्त स्वर में बोली, "ऐसा व्यवहार करता है, जैसे मेरा पति हो।" तुरन्त तिलोत्तमा को सम्बोधित करती हुई बोली, "तिलोत्तमा ! दंडपांशुल से आदेश दे दो कि भविष्य में श्रीमन्त मनु को भवन में प्रविष्ट न होने दिया जाए।"

"जो आज्ञा।" तिलोत्तमा नतनयन-सी चली गई।

वासवदत्ता का चित्त उद्विग्न हो गया। भवन की प्राचीरों में उसका मन घुटने लगा। वह प्रकोष्ठ में जाकर खड़ी हो गई, अवसन्न-सी।

उसे रह-रहकर पश्चात्ताप हो रहा था, "सर्व साधन-सम्पन्न मेरा जीवन दुःखी क्यों ? उर्वरा वसुन्धरा पर अति की अर्णा का अवतरण क्यों ?

उसके प्रश्न का उत्तर उसके ही मन ने विहंसकर दे दिया, 'तुम्हें सन्तोष कहां है ? तुम तो असन्तोष की पूजक हो।'

"हां, मैं असन्तोष की···तिलोत्तमा !" झुंझला उठी वासवदत्ता।

तिलोत्तमा शंकित दृष्टि से अपनी स्वामिनी को देखने लगी।

"सारथी से जाकर कहो कि शिविका तैयार करे।" तिलोत्तमा चली गई।

तोरणद्वार पर रथ रुकने की आहट हुई। वासवदत्ता का ध्यान उस ओर आकर्षित हुआ ही था कि तिलोत्तमा ने आकर निवेदन किया, "एक अपरिचित प्रवासी व्यापारी आए हैं।"

वासवदत्ता ने अरुचि से कहा, "जाओ, उनसे नम्र निवेदन

"गणिका के यहां आने वाले को अपमान-सम्मान पर सोच-विचार नहीं करना चाहिए।" स्वर को परिवर्तित किया वासवदत्ता ने, "अपनी समझ में मैं तुम्हारा कोई अपमान नहीं कर रही हूं, फिर तुम अपने मन में जैसा सोचो-समझो, वैसा कहो, मेरी ओर से कोई प्रतिरोध नहीं।"

"पर तुम यह तो जानती ही हो कि मैं…?"

"अभिमान को त्यागो मनु !" वासवदत्ता तिक्त स्वर में बोली, "तुम सामन्त हो तो क्या हुआ ? मेरी इच्छा के विरुद्ध इस भवन का पत्ता तक नहीं हिल सकता। यहां तुम्हें आना रुचिकर लगता हो, तो आओ अन्यथा अभी चले जाओ, यह रहा रास्ता।"

"और नहीं गया तो ?" कृत्रिम हठ किया मनु ने।

"यह असम्भव है, मैं एक नहीं, तुम्हारे जैसे कितने ही श्रेष्ठि-पुत्रों व सामन्तों का क्षण-भर में ही एक वितान तान दूंगी और उनके समक्ष तुम्हें अपमानित करूंगी, धक्के देकर निकाल दूंगी।"

"क्या कहा ?" मनु की मुट्ठियां भिच गईं। उसके मन में आया कि इस छलनामयी की ग्रीवा पकड़कर सदैव के लिए उसे महायात्रा करा दे, पर परिस्थितिवश वह मौन रहा।

"धक्के देकर निकलवा दूंगी।" दंभ वासवदत्ता के नयनों में था।

"इतना साहस है ?" मनु गरजा।

"हां।"

"तुम नितांत पतित हो गई हो।" इस बार मनु की आंखों में क्रोध के साथ घृणा भी थी।

"पतित तो हूं, पर तुम्हें अपनी वाणी पर शिष्टता का प्रतिबन्ध लगाना चाहिए। जानते हो, अभी तुम मेरे गृह में हो।"

"तभी मैं शांत हूं अन्यथा अब तक…?" मनु ने दांतों से

अपने निचले होंठ को काट लिया।

वासवदत्ता क्रोध के मारे चीख पड़ी, "मनु !"

मनु दुखित बना, द्वार की ओर बढ़ा। उसके जाते ही वासवदत्ता चंद क्षणों तक मौन रही। मौन क्या रही, रोष ने उसके उर के घुटते भावों को प्रकट नहीं होने दिया। चंद क्षण निरुद्देश्य व्यतीत हुए।

तब वासवदत्ता तप्त स्वर में बोली, "ऐसा व्यवहार करता है, जैसे मेरा पति हो।" तुरन्त तिलोत्तमा को सम्बोधित करती हुई बोली, "तिलोत्तमा ! दंडपांशुल से आदेश दे दो कि भविष्य में श्रीमन्त मनु को भवन में प्रविष्ट न होने दिया जाए।"

"जो आज्ञा।" तिलोत्तमा नतनयन-सी चली गई।

वासवदत्ता का चित्त उद्विग्न हो गया। भवन की प्राचीरों में उसका मन घुटने लगा। वह प्रकोष्ठ में जाकर खड़ी हो गई, अवसन्न-सी।

उसे रह-रहकर पश्चात्ताप हो रहा था, "सर्व साधन-सम्पन्न मेरा जीवन दुःखी क्यों ? उर्वरा वसुन्धरा पर अति की अर्णा का अवतरण क्यों ?

उसके प्रश्न का उत्तर उसके ही मन ने विहंसकर दे दिया, 'तुम्हें सन्तोष कहां है ? तुम तो असन्तोष की पूजक हो।'

"हां, मैं असन्तोष की···तिलोत्तमा !" झुंझला उठी वासवदत्ता।

तिलोत्तमा शंकित दृष्टि से अपनी स्वामिनी को देखने लगी।

"सारथी से जाकर कहो कि शिविका तैयार करे।"

तिलोत्तमा चली गई।

तोरणद्वार पर रथ रुकने की आहट हुई। वासवदत्ता का ध्यान उस ओर आकर्षित हुआ ही था कि तिलोत्तमा ने आकर निवेदन किया, "एक अपरिचित प्रवासी व्यापारी आए हैं।"

वासवदत्ता ने अरुचि से कहा, "जाओ, उनसे नम्र निवेदन

"गणिका के यहां आने वाले को अपमान-सम्मान पर सोच-विचार नहीं करना चाहिए।" स्वर को परिवर्तित किया वासवदत्ता ने, "अपनी समझ में मैं तुम्हारा कोई अपमान नहीं कर रही हूं, फिर तुम अपने मन में जैसा सोचो-समझो, वैसा कहो, मेरी ओर से कोई प्रतिरोध नहीं।"

"पर तुम यह तो जानती ही हो कि मैं···?"

"अभिमान को त्यागो मनु !" वासवदत्ता तिक्त स्वर में बोली, "तुम सामन्त हो तो क्या हुआ ? मेरी इच्छा के विरुद्ध इस भवन का पत्ता तक नहीं हिल सकता। यहां तुम्हें आना रुचिकर लगता हो, तो आओ अन्यथा अभी चले जाओ, यह रहा रास्ता।"

"और नहीं गया तो ?" कृत्रिम हठ किया मनु ने।

"यह असम्भव है, मैं एक नहीं, तुम्हारे जैसे कितने ही श्रेष्ठि-पुत्रों व सामन्तों का क्षण-भर में ही एक वितान तान दूंगी और उनके समक्ष तुम्हें अपमानित करूंगी, धक्के देकर निकाल दूंगी।"

"क्या कहा ?" मनु की मुट्ठियां भिच गईं। उसके मन में आया कि इस छलनामयी की ग्रीवा पकड़कर सदैव के लिए उसे महायात्रा करा दे, पर परिस्थितिवश वह मौन रहा।

"धक्के देकर निकलवा दूंगी।" दंभ वासवदत्ता के नयनों में था।

"इतना साहस है ?" मनु गरजा।

"हां।"

"तुम नितांत पतित हो गई हो।" इस बार मनु की आंखों मे क्रोध के साथ घृणा भी थी।

"पतित तो हूं, पर तुम्हें अपनी वाणी पर शिष्टता का प्रति-बन्ध लगाना चाहिए। जानते हो, अभी तुम मेरे गृह में हो।"

"तभी मैं शांत हूं अन्यथा अब तक···?" मनु ने दांतों से

एकाएक सामने अत्यन्त सज्जित अन्य रथ आता हुआ दृष्टिगोचर हुआ। रथ परिचित था, तो भी वासवदत्ता ने उस रथ की कृत्रिम उपेक्षा कर दी।

वह रथ जब अत्यन्त निकट आ गया तो आज्ञा-भरी वाणी सुनाई पड़ी, "रथ रोको।"

वाणी मनु की थी। प्रवासी के सारथी ने रथ रोक दिया।

प्रवासी इस अभद्रता को सह नहीं सका। गरज पड़ा, "रथ हांको, यह कोई नगरपति की आज्ञा नहीं है।"

"हां-हां, रथ हांको !" वासवदत्ता ने भी कहा।

"छलनामयी ! जीवन के अन्त को जानती हो ?"

"भली भांति, जीवन का अन्त है मृत्यु, केवल मृत्यु।"

"कौन-सी मृत्यु ?···दानव की या मानव की ?"

"कैसी भी हो, पर जीवन का अन्त मृत्यु है, इतना मैं जानती हूं।"

मनु गम्भीर उत्तर सुनकर चुप हो गया।

सारथी ने वासवदत्ता की आज्ञा सुनकर रथ हांकना चाहा कि मनु बोला, "इस संसार में लहरों का कोई अस्तित्व नहीं, तुम भी तो एक लहर की भांति हो, भला तुम्हारा क्या अस्तित्व हो सकता है ?"

"लहरें कूल के प्रस्तर को काट-काटकर अस्तित्वहीन कर देती हैं।"

"लेकिन उस अस्तित्व के चिह्न अमिट होते हैं।"

"आमूल-चूल परिवर्तन चिह्नों तक को मिटा देते हैं, तब कूल के स्थान पर केवल लोल लहरें नर्तन करती दिखाई देती हैं।"

मनु जल उठा। वह कुछ बोलने के लिए उद्यत हुआ ही था कि वासवदत्ता का रथ आगे बढ़ गया। प्रवासी व्यापारी इस नाटक को नहीं समझ सका। वासवदत्ता के रौद्र रूप को देखकर

कर दो कि आज हमारी स्वामिनी निरोग नहीं हैं, अतः आपका मनोरंजन करने में सर्वथा असमर्थ हैं।"

तिलोत्तमा जाने लगी, वासवदत्ता ने उसे तुरन्त रोकते हुए कहा, "उन्हें जाकर कहो कि मेरी स्वामिनी जल-विहार करने जाएगी, यदि आप जल-विहार का आनन्द लेना चाहते हैं, तो ससम्मान चल सकते हैं।"

तिलोत्तमा ने लौटकर कहा, "उन्हें स्वीकार है।"

रथ में आगन्तुक व्यापारी के पार्श्व में वासवदत्ता बैठी थी। यह प्रवासी भी कोई लक्षाधीश ही था। आभूषणों से युक्त ग्रीवा और भुजा तथा हीरकजड़ित ध्रुव के तारे की सदृश प्रकाशमान मुद्राएं।

नगर प्रवेश करते समय जब मित्र-मण्डल में प्रवासी के समक्ष आमोद-प्रमोद का प्रश्न उठा, तो सबने एक स्वर में वासवदत्ता के रूप-गुण की प्रशंसा की थी। रूप-गुण की प्रशंसा के साथ यह भी कहा गया था, "उस पर विजय पाना सहज नहीं।"

इस पर आगन्तुक व्यक्ति ने उस कामिनी पर मन-ही-मन विजय पाने की प्रतिज्ञा की थी; पर वासवदत्ता, उसने तो अब निर्णय कर लिया था, जीवन का महान् समर्पण का अधिकारी राहुल के उपरान्त उपगुप्त ही हो सकता है, संन्यासी उपगुप्त। वह उपगुप्त की अंकशायिनी बनना चाहती थी। अन्तर के पट पर उपगुप्त की सलोनी छवि चित्रित हो चुकी थी।

भिक्षु ने उसके जीवन में एक प्रश्न उठा दिया था। वह प्रश्न भिक्षु के दिव्यानन की भांति दिव्य था, दुर्जेय था। संन्यासी को स्मरण करती-करती सुन्दरी अस्फुट रूप में बड़बड़ा उठती थी। प्रतारिका-सी अवसाद के हिचकोले खा रही थी, रथ में।

आगन्तुक व्यापारी उसके मुख को देखते-देखते ऊब गया था। रथ अब भी द्रुतगति से चल रहा था। वृषभों की ग्रीवाओं में बंधी घंटियां अब भी मधुर ध्वनि कर रही थीं।

रूप में नहीं सुनी थी। वह आत्म-विभोर-सा उसे देखता रहा, संगीत का रसास्वादन करता रहा।

तरणी अब भी मन्थर गति से चल रही थी। वीणा की गति का संचालन बढ़ता ही गया, बढ़ता ही गया। प्रवासी का आनन्द भी उसी प्रकार बढ़ता गया।

'झन्न' के साथ वीणा के तार टूट गए।

ऐसा विदित हुआ प्रवासी को जैसे सुख-स्वप्न पर अप्रत्याशित आघात लगा हो। उसके चेहरे पर भय की रेखाएं दौड़ गईं, "अब क्या होगा ?"

प्रवासी को इतना व्याकुल देखकर वासवदत्ता विहंस पड़ी, "होगा क्या अब ?"

"तार जो टूट गए हैं ?" प्रवासी का हाथ टूटे हुए तारों की ओर था।

"पुनः बना लिए जाएंगे।"

"सुन्दरी ! ऐसी मधुर वीणा मैंने आज तक नहीं सुनी। ऐसी निपुणता तुमने कैसे और किसके द्वारा पाई, बताओगी मुझे ?"

"वह बड़ा ही अन्यायी और निष्ठुर है।"

"निष्ठुर की ऐसी मृदुल देन ! आश्चर्य है सुन्दरी !"

"केवल निष्ठुर नहीं, पापी भी है, दस्यु भी है, भला भी है।"

"ऐसा विचित्र कौन है ?"

"पेट !"

"पेट !" प्रवासी के नेत्र विस्फारित हो गए।

"यह पेट न होता, तो मैं वीणा की निपुण वादिनी वारांगना नहीं होती। सच कहूं, यह नहीं होता, तो सृष्टि में कोई समस्या ही नहीं होती। यह पेट कितने अपराध कराता है, अनुमान लगाना दूभर है।"

नितान्त निरुत्तर रहा और उसने मन-ही-मन निश्चय कर लिया कि यह सुन्दरी असाधारण है।

रथ सरिता-कूल पर था। वासवदत्ता को प्रवासी व्यापारी ने कर सम्बल देकर रथ से उतारा। हंस पीठिका तरणी लोल लहरों पर मन्थर गति से लास्य कर रही थी। नाविक डांड खे रहे थे। प्रवासी व्यापारी अपना समस्त व्यक्तित्व विस्मृत कर अबोध शिशु-सा बैठा था, वासवदत्ता के सम्मुख। कभी-कभी वह वासवदत्ता को घूरता भी था। तरणी सरिता के मध्य में थी। वासवदत्ता वीणा के तारों को अपनी मृदुल अंगुलियों से झंकृत करती-करती जब रुक गई तब प्रवासी की प्रसन्नता नयनों में दीप्त होती-होती रुक गई। एकान्त, निस्तब्धता, नारी तन की मादक सुगन्ध, हलका-हलका स्पर्श।

उसने विनीत होकर कहा, "देवी! निस्पन्द क्षण व्यतीत नहीं किए जाते।"

"सच! मैं भी सोच रही हूं कि कुछ करूं।··· क्यों श्रेष्ठि-वर! यदि संगीत के मधुर स्वरों से इस वातावरण में उस प्रमाद और उन्माद का समावेश कर दूं, जो समस्त चिंताओं का हरण कर सकता है, तो उसमें आपको कोई आपत्ति है?" प्रश्न सुन्दर था।

"नहीं तो, मैं भी तो इसीलिए आया हूं देवी! संगीत संकटमोचन कहलाता है। मन के सन्तोप को हरण करने की शक्ति उसमें रहती है। इसे मैं और तुम भली भांति जानते हैं। तुम वीणावादन करो।"

वासवदत्ता वीणा के तारों पर अपनी अंगुलियां धावितकरने लगी। निशि-क्षणों में संगीत की कोमल कान्त स्वर-लहरी अनंत को ध्वनित करने लगी और प्रवासी विस्मय विमुग्ध-सा उसे निहा-रता रहा; पर आज स्वर सदैव की अपेक्षा परिवर्तित था। प्रवासी ने वीणा के निर्जीव तारों में ऐसी मर्मांतक वेदना सजीव

"इसमें कृपा की क्या वात है ? लो, इस मुद्रा को पहन लो। यह तुम्हें अत्यन्त भली लगेगी। लो पहनो न ?" कहकर प्रवासी ने वासवदत्ता के कर में मुद्रा पहना दी।

मुद्रा पहनकर एक पल के लिए सुन्दरी ने अपनी अंगुली को मोहदृष्टि से निहारा। प्रवासी उसे मुग्ध-सा देखता रहा कि कूल के समीप के अरण्य में गगनभेदी गर्जना हुई, वनराज की। दोनों कांप उठे।

तरणी तुरन्त कूल की ओर अग्रसर हुई। दोनों भयभीत थे, शंकित थे। कंपाने वाली गर्जना पुनः हुई। तरणी कूल पर पहुंच गई। वासवदत्ता ने उस ओर ध्यान से दृष्टिपात किया।

धुंधले प्रकाश में उसने देखा और देखकर चिघाड़ उठी, "भिक्षु ! भिक्षु ! ! बचो सिंह ! सिंह ! !"

वासवदत्ता वेसुध-सी भिक्षु की ओर लपकी। देखा, आक्रमणकारी सिंह धराशायी हो गया है। उसके एक अत्यंत घातक वाण लगा है।

लेकिन भिक्षु उपगुप्त का चेहरा निर्द्वन्द्व था। भावशून्य था। लपककर सिंह के समीप गए और उसे थपथपाकर धैर्य दिया। धैर्य देकर वाण निकाला। प्रहार इतना घातक नहीं था, जितना समझा गया था, तो भी रक्त प्रवाहित होने लग गया था। भिक्षु ने तुरन्त अपना कापाय वस्त्र चीर करके सिंह के घाव पर बांधा। सिंह उठकर पालतू पशु की भांति वन की ओर चला गया।

वासवदत्ता तुरंत भिक्षु के समीप पहुंची। आकुलता से बोली, "यह आपने क्या किया। कहीं हिंस्र पशु आपका भक्षण कर लेता तो ?"

तभी आखेटक भी आ गया था। आखेटक के नयनों में रोप था। वह घायल भी था। सिंह को न पाकर वह खड़ा रहा।

भिक्षु का स्वर शांत था, मुद्रा भी शांत थी, "भद्रे ! भगवान् बुद्ध की कृपा प्राप्त करने के पश्चात् प्राणी को मृत्यु का भय

तरणी अब भी चपल-चंचल वीचियों पर किल्लोलें कर रही थी। इसी प्रकार की वार्तालाप में दोनों निमग्न थे।

वासवदत्ता की दृष्टि प्रवासी की उस मुद्रा पर पड़ी जिस पर स्वर्णकार की कला बोलती थी। मुद्रा को लालसा-भरी दृष्टि से देखती हुई वह प्रवासी के सन्निकट आई। उसका हाथ अपने कर में लिया, "श्रेष्ठिवर ! यह मुद्रा आपने कब बनाई ?"

प्रवासी उसकी मनशा को भांप गया, "क्यों, तुम्हें पसंद है ?"

"जी नहीं, किंतु इसकी निर्माण कला वास्तव में अद्‌भुत है।"

"हमारे नगर के नितांत निपुण-निर्वाचित स्वर्णकार का यह कौशल है।"

"ओह," वासवदत्ता आश्वस्त होती हुई बोली, "तभी यह मुद्रा प्रत्येक का ध्यान अपनी ओर आकर्पित कर लेती है। इसके मणि का क्या अर्थ दिया ?"

"अर्थ ? सुन्दरी, वह स्वर्णकार तो मेरा मित्र है।"

"मित्र है, तभी उसने इतनी उत्कृष्ट वस्तु का निर्माण किया है।"

"मुझे तो पूर्ण विश्वास हो गया है कि यह मुद्रा तुम्हें पसंद है।"

"नहीं···नहीं।"

"मिथ्या बोलती हो ?"

"पसन्द हो भी तो क्या ? आप अपने मित्र की भेंट मुझे थोड़े ही दे देंगे ?" वासवदत्ता ने उसकी भावना पर प्रहार किया।

"मैं ऐसी एक नहीं, दस बनवा सकता हूं, यदि तुम्हें पसंद हो तो ले लो।" वह मुद्रा अंगुली से उतारने के लिए तत्पर हुआ।

"इस तुच्छ पर इतनी कृपा···?"

की, तो उसने मुझ पर दया की।"

वासवदत्ता ने उसकी प्रतिज्ञा को स्मरण दिलाते हुए कहा, "भिक्षु ! आपको अपनी प्रतिज्ञा स्मरण होगी ? आपने कहा था, 'मैं एक वर्ष बाद आऊंगा।' देखो, वर्ष व्यतीत होने के संग-संग आज कितना स्वस्थ वातावरण है ?" वासवदत्ता अपनी अत्युत्तम मुद्रा में खड़ी हो गई।

भिक्षु ने मन-ही-मन स्मरण किया :

दुन्निग्गहस्स लहुनो यत्थ कामिनी पातिनो
चित्तस्य दमो थो साधु चित्त दन्तं सुखावह[1]

भिक्षु ने नेत्र मूंदकर तथागत के दर्शन किए। मन को परम शान्ति मिल गई। उसने कहा, "वातावरण अपनी नियत परिधि में प्रत्यावर्त्तन करता रहता है। इसके लिए सुख-दुःख करना व्यर्थ है।"

"नहीं भिक्षु ! जो क्षण व्यतीत होता जाता है, वह पुनः नहीं लौटता। और ये क्षण कितने सुन्दर हैं !"

"क्षण इससे भी सुन्दर आ सकते हैं।"

"लेकिन आपने जो प्रतिज्ञा की थी ?"

"उस प्रतिज्ञा में अभी एक पक्ष की अवेर है।"

"तो तुम्हें कल मेरे घर पर पुनः आतिथ्य स्वीकार करना पड़ेगा।"

"अवश्य।" उपगुप्त बोला और वहां से चल पड़ा।

रह गई थी एकाकी वासवदत्ता। उसका नूतन अतिथि प्रवासी। प्रवासी इतने काल तक कुछ नहीं समझा। देखता रहा

---

१. (जो) कठिनाई से निग्रह योग्य, शीघ्रगामी, जहां चाहता है, वहां चलने वाला है, (ऐसे) चित्त का दमन करना उत्तम है; दमन किया चित्त सुखप्रद होता है।

नहीं रहता, क्योंकि मृत्यु का पल निश्चित है। और जीवमात्र की रक्षा करना हमारा धर्म है।"

"सांप को दुग्धपान कराने से क्या वह अपने स्वभाव का त्याग कर देगा ?" वासवदत्ता ने पूछा।

"क्यों नहीं; मनुष्य में आत्मबल होना चाहिए, फिर वह जैसा चाहे, वैसा कर सकता है।"

"लेकिन जान-बूझकर प्राणों का होम करना भी तो साधुता नहीं है।"

"साधुता के लक्षण और उनकी साधनाजनित प्रवृत्तियों को तुम क्या जानो ? कनक की चमक में लीन प्राणों को मन की सच्चाई का ज्ञान कम रहता है। विश्व के प्रांगण में अहिंसा और दया ही ऐसी वस्तुएं हैं, जिनसे मनुष्यमात्र का कल्याण सम्भव है। आखेटक व्याघ्र पर प्रहार नहीं करता, तो क्या व्याघ्र उस पर झपटता ? नहीं, कदापि नहीं। आखेटक ने उसका प्राण लेना चाहा, तो उसने उसके प्राण लेने का प्रयास किया। ज्ञानी हिंसा नहीं करता, वह हिंसा का विनिमय भी अहिंसा से करता है। इसलिए प्राणीमात्र को दया करना चाहिए, ताकि वह निर्वाण पद प्राप्त करके जन्म-जन्मान्तर से मुक्त हो।" कहते-कहते भिक्षु के नेत्र बन्द हो गए।

आखेटक ने बढ़कर भिक्षु के चरण-स्पर्श कर लिए। भिक्षु ने उसे आशीर्वाद दिया, "कल्याण हो। हिंसा को त्यागो, दया करो।"

"मैं भविष्य में कभी भी हिंसा नहीं करूंगा। मैं जान गया हूं कि जीवन में यदि सर्वश्रेष्ठ वस्तु है, तो वह है दया और अहिंसा।" आखेटक ने भिक्षु की पग-धूलि को मस्तक पर लगाया और वन के पूर्वांचल की ओर चला गया।

भिक्षु ने नितांत संयत स्वर में कहा, "तुमने उसे मारना चाहा, तो उसने तुम्हें मारने की चेष्टा की। मैंने उस पर दया

चरणों में अपना जीवन-यौवन समर्पण करती जा रही थीं; लेकिन आज वह इस समस्या पर गंभीरता से विश्लेपण करना चाहता था।

उन्होंने मन-ही-मन सोचा, 'संघ में नारी प्रवेश धर्मोत्थान के लिए श्रेयस्कर नहीं हो सकता।'

उनके अपने मन ने कहा, 'यह महाप्रभु ने श्री आनन्द के अनुरोध पर उचित नहीं किया, क्योंकि जो नारी किसी भिक्षु पर आसक्त होकर, उसे अप्राप्य समझकर, प्रव्ज्या लेगी और संघ में प्रविष्ट करेगी, वह अवश्य ही भ्रष्टाचार का विस्तार करेगी।'

इन्हीं विचारों में उलझे आचार्य उपगुप्त स्थिर होकर बैठ गए। उनका हृदय पीड़ित था। विचारों का संघर्ष और संघर्ष से जो मन्थन होकर नवनीत निकल रहा था, उसी नवनीत को आचार्य उपगुप्त बड़ी सावधानी से एकत्रित कर रहे थे। उन्होंने निर्णय किया कि वह धर्म संघ में जाकर महास्थविर से प्रार्थना करेंगे कि संघ में नारी प्रवेश की एक कठोर मर्यादा बना दी जाए अन्यथा गर्भ में निहित भयानक दावानल महाप्राण के महामंत्र का विनाश कर देगा। संघों में ये तथाकथित भिक्षुणियां शील और संयम के स्थान पर अनाचार और व्यभिचार का विस्तार करेंगी। तब विरोधी धर्मावलम्बियों से संघर्ष होगा। महाप्रभु के त्रिरत्नों पर से लोगों का विश्वास उठ जाएगा। धर्म में महान् परिवर्तन की आशंका उठ आएगी। लोगों को सादगी के स्थान पर वैभव, त्याग के स्थान पर मोह, धर्म के स्थान पर पाप दृष्टिगोचर होगा। तब महान् क्रान्ति का आह्वान होगा। क्रान्ति के साथ नवीन धर्मचक्र का प्रवर्तन होगा।

भिक्षु उपगुप्त भावावेश के कारण शिथिल हो गए। उनके सूर्यमुख पर परिताप-भरे स्वेदकण उभर आए। भविष्य के गर्भ

वासवदत्ता और भिक्षु को। उसने उन दोनों की वार्ता को समझने का प्रयास भी किया था, पर समझने में वह असमर्थ-सा रहा। वासवदत्ता उससे रुष्ट न हो जाए, यही विचार करके प्रवासी ने शंकित स्वर में पूछा, "यह भिक्षु कौन था ?"

वासवदत्ता मौन रही।

"सुन्दरी ! यह साधारण भिक्षु कौन था, जिसके समक्ष तुम प्रणय-चर्चा कर रही थीं ?"

"वह साधारण भिक्षु था ?...किस रूप में ? रूप-गुण-बुद्धि का तो लक्षाधीश है।...श्रेष्ठिवर ! यह आचार्य उपगुप्त हैं, जो मृत्यु जैसी भयानक वस्तु से भी भय नहीं खाते।" वासवदत्ता की आंखें चमक गईं।

"सुन्दरी ! तुम बड़ी विचित्र हो, संन्यासियों-साधुओं के लिए तुम्हारे हृदय में अपनत्व है, ऐसा क्यों ?"

वासवदत्ता मौन रही। प्रवासी श्रेष्ठिवर प्रसंग बदलने के हेतु बोला, "सुन्दरी ! एक अनुपम नृत्य दिखा दो। पारितोषिक पूर्व प्रदान कर देता हूं। लो, यह पुखराज।" कहकर प्रवासी ने उसे भेंट कर दिया।

वासवदत्ता ने एक क्षण तक उस पुखराज को देखा, फिर उसे सरिता के अथाह जल में फेंक दिया। प्रवासी रोकता-रोकता रह गया। जो वह कहना चाहता था, वह कह न सका। वह कहना चाहता था, 'यह तुमने क्या किया सुन्दरी !'

और सुन्दरी ? वह तो खिलखिलाकर हंस रही थी, हंसती जा रही थी। हंसते-हंसते उसके नयनों में जल भर आया था।

आज तिमिराच्छन्न रात्रि वेला में उपगुप्त का चित्त उद्विग्न-पर-उद्विग्न होता जा रहा था। उसके मस्तिष्क में भांति-भांति की शंकाएं धूम्र सदृश उठ-उठकर लुप्त हो रही थीं। क्योंकि संघों में नारी प्रवेश मान्य था। भिक्षुणियां तथागत के

"नहीं !" आचार्य उपगुप्त गरज पड़े, "मैं महास्थविर से प्रार्थना करूंगा ही।"

उपगुप्त के नेत्र इस वार ऐसे खुले, जैसे एक नहीं सहस्र उल्काओं का प्रकाश उनमें जगमगा उठा। जैसे भगवान् बुद्ध की कृपा ने इस भक्त को इस पापवृत्ति से मुक्त होने का सम्बल दे दिया है।

वह उठे। निविड़ शून्य में चहल कदमी करने लगे। शून्य में पदचाप स्पष्ट सुनाई पड़ रही थी।

विचारों का संघर्ष अब भी उनके मस्तिष्क में चल रहा था। अन्त में उन्होंने निर्णय किया, 'मैं वासवदत्ता के यहां अवश्य ही जाऊंगा। महाप्राण अमिताभ का सच्चा भक्त हूं, अशैक्ष हूं, तो अपने आत्मबल से उस प्रवंचनामयी छलना के वासना-भरे हृदय में विरक्ति की भावना को उत्पन्न करूंगा, उसके विलासी हृदय को विभुता-विमुख करूंगा।'

इतना विचारते-विचारते उपगुप्त जड़वत् हो गए। निर्णय भयंकर था, तो उसकी सफलता प्राप्त होनी भी उतनी ही भयंकर थी। अनुरक्ति और विरक्ति की स्पर्धा थी। कौन विजयी होगा, कोई नहीं जानता था। दोनों महाबली थे। एक थी सुन्दरी और एक था संन्यासी।

उपगुप्त चलने को उद्यत हुए। उन्होंने सर्वप्रथम उस गहरे शून्य में महाप्राण की महाभ्यर्थना की। धीरे-धीरे डग उठाते लता-कुंज की ओर बढ़े। हौले-हौले सुनाई पड़ रहा था—बुद्धं सरणं गच्छामि। धम्मं सरणं गच्छामि। संघं सरणं गच्छामि।

हेमन्त-प्रभात में चंचल गात्री वासवदत्ता नववधू-सी अलिन्द में आत्म-विभोर हुई खड़ी थी। आज उसने निर्णय कर लिया था कि संन्यासी लाख भी मना करे; पर वह नर्तन करेगी। नृत्य ! ऐसा नृत्य, जो अपनी अद्भुत कला द्वारा आचार्य उपगुप्त के

में क्या निहित है, उसका धुंधला आभास नेत्रों के सम्मुख नर्तन करने लगा। अभिशप्त उपगुप्त नेत्रोन्मीलन करके धरती पर सो गए। उन्हें जाग्रत् स्वप्न आने लगे।

अविकसित कमलिनी की सदृश बन्द पलकें वासवदत्ता के चतुर्दिक् चक्कर लगाने लगीं, चम्पा-सा मुग्ध यौवन, अधरों पर ताम्बुल की रक्ताभा। बिन्दी शोभित भाल पर उत्तेजना और आवेग से झलके हुए हुए स्वेदकण। गर्वित सौन्दर्य। वासना की साक्षात् प्रतिमा। रूप की ज्वलित शिखा।

चौंककर उठ गए आचार्य उपगुप्त। अपने चारों ओर दृष्टि-पात किया, घोर अन्धकार के सिवाय कुछ भी दृष्टिगोचर नहीं हो रहा है।

उन्हें भान होने लगा कि वासवदत्ता वासना व इन्द्रियों का दमन किए बिना भिक्षुणी बन गई है और एक नवदीक्षित भिक्षु पर आसक्त हो गई है। भिक्षु अपने पथ पर अडिग है। धीरे-धीरे वासवदत्ता उसे पतनोन्मुख करती रहती है। अन्त में सदैव का सामीप्य उस भिक्षु को चंचल बना देता है। दमन किए मन के विकार उच्छृंखल होने लगते हैं।

उपगुप्त को उस भिक्षु पर क्षोभ होने लगता है। वह उसे चेतावनी देता है, 'श्रमण ! श्रमण !! रुको, भावनाओं में इतना न बहो कि तुम्हारी निर्वाण की साधना भंग हो जाए···नारी साधु की महान् दुर्बलता है। उस दुर्बलता पर अधिकार करो, वरना तुम्हारे निर्वाण प्राप्ति के अष्टांग साधन भंग हो जाएंगे।···तुम्हें तो सद्ज्ञान, सत्संकल्प, सद्वाणी, सत्कर्म, सज्जीविका, सच्चित्तावस्था की ओर प्रवृत्त होना चाहिए और तुम्हारा मन तो एक अभिनव अभिशाप की ओर उन्मुख हो रहा है। संभलो ! श्रमण, संभलो !'

पर वह भिक्षु उससे लुक-छुप करके अभिसार करता रहता है। अभिसार अन्त में पतन बन जाता है। तब···?

भिक्षु ने आशीर्वाद दिया, "कल्याण हो।"

भिक्षु का महास्वागत हुआ। प्रसाद ग्रहण करने के उपरान्त केलि-भवन में भिक्षु के लिए चन्दन की वेदी रखी हुई थी, फिर भी आसन ग्रहण किया भिक्षु ने पत्थर पर ही।

वासवदत्ता ने परिचारिकाओं को सम्बोधित कर कहा, "एकान्त !"

सब परिचारिकाएं चली गईं। भवन में शान्ति छा गई। भिक्षु ने प्रश्न-भरी दृष्टि से वासवदत्ता को देखा। वासवदत्ता मुसकरा पड़ी।

भिक्षु आश्वस्त होता हुआ बोला, "भद्रे ! तुम्हारी साधना की भावना पवित्र नहीं है। जैसी भावना वैसा फल।"

"मेरी जैसी भावना होगी, क्या मुझे वैसा ही फल मिलेगा ?"

"क्यों नहीं ? यह चिरन्तन सत्य है।"

"मेरी भावना किसी को प्राप्त करने की हो तो ?"

"वह भी तुम्हें मिलेगा।"

"तो मैं तुम्हें प्राप्त करना चाहती हूं।" वासवदत्ता ने तुरन्त कहा।

"क्यों नहीं, साध्य को यदि तुम्हारी साधना पसन्द आई तो।"

"क्या मेरी साधना तुम्हें पसन्द नहीं है ?"

भिक्षु ने 'न' के संकेत में सिर हिलाया।

"क्यों ?" आघात लगा वासवदत्ता को। वह चौंक पड़ी।

"क्योंकि मैं नारी में उत्थान और पतन दोनों पाता हूं। यदि वह शील, संयम और सदाचार से चले, तो जगत्-कल्याण कर सकती है।"

"आप तो मुझे सदैव वाक्-चक्र में उलझाने की चेष्टा करते हैं और मैं स्पष्ट शब्दों में कहती हूं कि मैं बिना प्रेम किसी भी

हृदय में मोह का प्रादुर्भाव करेगा, और तभी मैं उसे जीवन का सफल नृत्य मानूंगी। केवल सफल ही नहीं, यह नृत्य मेरे जीवन का अन्तिम सार्वजनिक नृत्य होगा।

वासवदत्ता के विचार और गम्भीर हो गए, 'राग और विराग के संताप पर संयम का शिला-खण्ड भग्न करके मैं राग का ज्वार उत्पन्न करना चाहती हूं। इस विलास और उल्लास के असीमित सागर में संन्यासी को डुबाना चाहती हूं।'

'हां, यदि मैं पराजित हो गई तो इन समस्त कला-निधियों को अगस्त्य मुनि की भांति पान कर डालूंगी। तत्पश्चात् इस हृदय में उस निर्लेप की उपासना का प्रदीप प्रज्वलित करूंगी, जो मेरी पराजय की पवित्र प्रतिक्रिया होगी।"

इस वार वह दृढ़ निश्चय करके शृंगार-कक्ष में आई और वहां के समस्त दर्पणों में अपने को दर्प से देखा। स्वर्ण आभूषणों से सज्जित वह ऐसी लग रही थी, जैसे स्वर्णपात्रों के मध्य झिलमिलाती दीपशिखा।

आज भवन की स्वच्छता भी विशेष रूप से कराई गई थी। तोरणद्वार, गर्भद्वार, अलिन्द, प्रकोष्ठ, गवाक्ष सज्जा की पराकाष्ठा को पहुंच गए थे। चम्पक, कमल, जूही के पुष्पों से भवन महक रहा था।

दण्डपांशुल, प्रहरी और परिचारिकाएं नूतन वस्त्र धारण किए अपने-अपने कार्य में तत्पर दीख रहे थे। उनके आननों पर उषा की भांति उन्मेष छाया हुआ था।

दण्डपांशुल ने शीघ्रता से आकर संवाद सुनाया, "आचार्य उपगुप्त पधार रहे हैं।"

वासवदत्ता चंचल हो उठी। भिक्षु के स्वागत हेतु वह कुछ देर अपनी चेतना को विस्मृत करके यत्र-तत्र धावित होने लगी जब भिक्षु ने तोरणद्वार पर अपना चरण रखा, तब वासवदत्त के युग्म कर भिक्षु के चरणों पर थे।

बनकर शेष जीवनयापन करना है मुझे।" वह अवश-सी भिक्षु से सटकर खड़ी हो गई।

भिक्षु ने शान्त भाव से कहा, "प्रेमी बनने के पूर्व त्यागी बनना सीखो। देवी ! प्यार रोष भी नहीं करता और वासना अपराध भी करा देती है। जब तक तुम त्याग करना न सीख जाओगी, तब तक तुम सफल प्रेमी नहीं बन सकतीं।"

"मैं सर्वस्व त्यागने को तत्पर हूं।"

"शीघ्रता भी वासना का एक भाव है। त्याग की उत्पत्ति चिन्तन से होती है देवी ! यौवनमत्त प्राणी चिन्तन को किंचित् महत्त्व देता है।"

"यह तुम कैसे कह सकते हो भिक्षु !"

आचार्य उपगुप्त जड़वत् रहे। उनके अधर किसी की अभ्यर्थना में निमग्न थे। पाप के इस संघर्षण-विघर्षण में अपने को अस्पृश्य रखने हेतु भिक्षु के नेत्र बन्द थे। अधर फड़क रहे थे। तन शून्य था। मन समाधिस्थ-सा था। भिक्षु ने नेत्र खोल दिए।

वासवदत्ता प्रसन्नता से विहंस पड़ी, "भिक्षु मेरी इतनी उपेक्षा क्यों कर रहे हो ?"

"मैं प्रत्येक प्राणी को प्यार करता हूं, तुम्हें भी।"

"यह तुम कहते अवश्य हो; लेकिन करते नहीं।"

"मैं प्रेम करता हूं। वासवदत्ता ! तुम प्रणय की महानता से अपरिचित हो। प्रणय का सच्चा रूप इन्द्रियों के दमन के पश्चात् ही विदित होता है। मैं स्वयं मथुरा का श्रेष्ठि-पुत्र रहा हूं। वैभव की निरर्थकता को त्याग कर ही मैं मोक्ष-पथ पर आया हूं।"

फिर तथागत के उपदेश उनके मन-मन्दिर में गूंज उठे, "तरुण युवती भगिनी सदृश होती है। उसे प्रत्येक श्रमण को उसी दृष्टि से देखना चाहिए। यदि वह मन में तनिक भी कलुषित विचार लाता है, तो वह अपराधी है।"

साधना, उपासना, आराधना को सफल नहीं मानती। भिक्षु, मुझे प्रेम चाहिए, प्रेम।"

"मैं तुम्हें प्रेम दूंगा।"

"तुम मुझे प्रेम दोगे?" रोम-रोम बोल उठा वासवदत्ता का।

"हां, मैं तुम्हें प्रेम दूंगा, निश्चय ही प्रेम दूंगा।"

"तो लो यह आंचल विस्तृत है।"

"प्रेम के लिए यह स्थान उचित नहीं।"

"भिक्षु!" कहकर वासवदत्ता उसके सन्निकट आ गई "तुम मुझे प्रेम प्रदान करोगे?" वासवदत्ता के संयम का बांध टूट गया। वह अनर्गल प्रलाप करने लगी, "भिक्षु! मुझे कुछ नहीं चाहिए, केवल तुम्हारा प्रेम चाहिए। तुम्हारे प्रेम-प्रसून का प्रसाद जब इस तुच्छ नारी को प्राप्त हो जाएगा, तब वह तुम पर अपना सर्वस्व विसर्जन कर देगी।"

"मैंने कहा न कि प्रेम प्राप्त करने का यथेष्ट स्थान भी तो होना चाहिए। वह तुम्हारे पास कहां है?"

"कैसे नहीं है!" रूप-माधुरी चौंक पड़ी, "वह स्थान है मेरा हृदय।"

"हृदय में प्रेम है ही नहीं, वहां है वासना। पतनोन्मुखी तृष्णाएं।"

"भिक्षु!" वासवदत्ता ने रोष-भरी दृष्टि से भिक्षु की ओर निहारा।

"जा रहा हूं देवी।" भिक्षु खड़ा हो गया।

उसे रोकते हुए वासवदत्ता करुणा से बोली, "क्षमा कर दो भिक्षु! मैंने दंभ में प्रेम की महत्ता को विस्मृत कर दिया था, इतने दिन तक समस्या को ही जीवन की सफलता, अमोघ शस्त्र मानती रही; लेकिन वह मिट्टी के पर्वत की भांति खंडित हो रहा है। अब मैं प्रेम चाहती हूं। केवल एक व्यक्ति की प्रेम-पात्र

गृहलक्ष्मी के शयन-कक्ष के दर्पण के सम्मुख खड़ी देविका अपने कुन्तल संवार रही थी। संवारते-संवारते वह सोच रही थी, 'गृह-कलह से गृह का नाश संभव है। स्वामी का, वाला के नयन-जाल में उलझकर स्वामिनी की उपेक्षा और दुर्व्यवहार एक-न-एक दिन इस गृह की भव्य प्राचीरों को धराशायी कर देगा, तब यह गौरवशाली कुटुम्ब प्रताड़ना का जीवन यापन करेगा।

'वाला गृहलक्ष्मी की सेविका है; लेकिन इन दिनों जो उसका व्यवहार देखा जा रहा है, उससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि वाला ही मनु की धर्म-पत्नी है, गृहलक्ष्मी तो एक दासी है।

'और वाला प्रतिशोध की आग में जलकर कितनी कटु, घृणित और पापाणी हो गई है !'

देविका को आश्चर्य होता था और कभी-कभी वह सोचती भी थी कि क्या यही वह वाला है, जिसे मनु ने क्रय किया था ? जो करुण थी, जो शांत थी, जो भोली थी, जो दयनीय थी; लेकिन वह तो ··?

देविका सोचती जा रही थी। सोचते-सोचते वह वाहर चली गई।

और वाला ? विगत दिनों में उसने एक अभिशप्त जीवन ही व्यतीत किया था। मनु के संग उसका जो सम्बन्ध था, वह तो था ही, उसने गुप्त रूप से एक दंडपांशुल से भी अपना सम्बन्ध जोड़ लिया था। जब मनु उसके कक्ष में नहीं आता था, तब वह दंडपांशुल आता था। वह दंडपांशुल को हृदय से चाहती थी, क्योंकि वह भी उसे अत्यन्त चाहता था।

एक दिन मनु ने उन दोनों की प्रेम-क्रीड़ा का अवलोकन कर लिया।

एक भयंकर समस्या उपस्थित हो गई थी। ऐसे भयभीत क्षण वाला के जीवन में नहीं आए थे। मृत्यु उसके चतुर्दिक्

तब अनात्मवादी ने मन-ही-मन पढ़ा, "परित्राण धर्मदेशना।"

और जैसे उनकी चेतना लौट आई हो, वैसे सजग होकर वे वासवदत्ता को मर्मभेदी दृष्टि से निहारने लगा। अब उनके दिव्य चक्षुओं को वासवदत्ता के उत्तेजित रूप में सात्विक रूप के दर्शन हुए।

वे मन-ही-मन कह उठे, 'यह तो मेरी भगिनी है, भोली-भाली···!' सोचते-सोचते भिक्षु ने आशीर्वाद देने के लिए अपना हाथ उसके सिर पर रख दिया। इस बार वासवदत्ता भी विस्मय-विमूढ़ हो गई। वासवदत्ता के उद्दाम उत्कर्ष के कारण पतन के भंवर में थपेड़े खाता हुआ सुन्दरी का मन पल-भर के लिए स्पन्दनहीन हो गया था। संन्यासी सोच रहा था कि इस पथ-विस्मृता को परमार्थ के पथ पर कैसे लाऊं?'

भिक्षुक ने कहा, "महाप्रभु तथागत का ध्यान करो। वे सच्चा प्रेम देंगे।"

वासवदत्ता मौन रही। उसने देखा कि भिक्षु के तारुण्य-सम्पन्न आनन पर वृद्ध का भोलापन क्रीड़ा कर रहा है। मैं उसके समक्ष एक नन्ही शिशु-सी लगती हूं, नितान्त छोटी।

"अच्छा, अब मैं चलता हूं।" भिक्षु चलने को उद्यत हुआ।

"और मेरी प्रेम पिपासा?"

"पूर्ण होगी।"

"वह समय कब आएगा?"

आचार्य उपगुप्त कुछ क्षण समाधिस्थ रहे, जैसे किसी भावी बात का पता लगा रहे हों, फिर किंचित् उदास स्वर में बोले, "एक पक्ष के पश्चात्।"

और वह त्रिरत्न उच्चारित करते हुए चल पड़े।

प्रातः समीरण के शीतल झोंके वातायन से आ-जा रहे थे।

वाला अहम् से अकड़कर उस ओर चली। मनु शय्या पर शायित अब भी जम्हाइयां ले रहा था। उसके कुन्तल स्नेहहीन-शृंगारहीन थे। वसन भी अस्त-व्यस्त थे।

वाले को देखते ही मंद स्मित-रेखा उसके अधरों पर धावित हो गई, "आओ वाले, आओ।"

'यह द्वंद्व और कितने दिन चलेगा ?" वाला ने प्रणाम करके कहा।

"कौन-सा द्वंद्व ?" जैसे मनु कुछ भी नहीं जानता है।

"गृहलक्ष्मी से। वह आपकी अनुपस्थिति में मेरे सौंदर्य और माधुर्य को कोसती रहती हैं, ऐसा क्यों ? मैं आपकी चरण-धूलि हूं और वह आपके मन-मंदिर की मूर्ति; लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं है कि मैं आपके चरण-स्पर्श से भी वंचित रहूं।"

मनु ने तुरन्त पूछा, "वह तुम्हारे साथ ऐसा बर्ताव करती है ?"

"प्रमाण भी दे सकती हूं कि आपकी धर्मपत्नी कितनी नृशंस है।"

"नृशंस ?·· क्या कहती हो वाले !"

"सच कहती हूं, देखिए।" कहकर वाला ने अपने आंचल को उतार करके कंचुकी को खोला, तो उरोज पर एक नीला चिह्न लगा हुआ दिखाई पड़ा। इस नीले चिह्न को देखते ही मनु सिहर उठा।

"यह क्या ?"

"आपकी धर्मपत्नी का धर्मकार्य ?" मुख घुमा लिया वाला ने।

"वह इतनी निष्ठुर हो गई है ?" खड़ा हो गया मनु।

"प्रमाण प्रत्यक्ष है, कथन की क्या आवश्यकता ?" स्वर शांत था।

तुम यहीं बैठो, मैं आता हूं।" कहकर मनु कक्ष से बाहर

चक्कर लगाने लगी थी।

और मनु? उसकी आंखें कह रही थीं, 'वाले! तुम्हारा अंत निश्चित है।'

तब मनु ने वाला को पदाघातों से अचेत कर दिया। दण्ड-पांशुल के वक्ष पर लोहे की तपी सलाखें चिपका दीं। कितना करुण क्रन्दन कर रहा था वह दण्डपांशुल; लेकिन मनु को तनिक भी करुणा नहीं आई। वह उसे पीटता गया, केवल पीटता गया। वाला देखती रही। उसके नयनों से रक्त प्रवाहित हो गया था।

जब मनु श्रान्त हो गया, तो उसने दो अन्य दण्डपांशुलों को आज्ञा दी कि इसे इसी अवस्था में घोर वन में छोड़ आओ, ताकि यह क्षुधा से आकुल भटके और जलविहीन मीन की भांति अपने प्राणों का त्याग करे।

उस दिन से आज तक वाला और मनु के मध्य पुनः द्वंद्व नहीं हुआ। दोनों अब प्रसन्न थे। वाला मनु को अपना तन देती थी और मनु उस तन के परिवर्तन में उसे अन्न दिया करता था।

धीरे-धीरे वाला मनु के मन की सम्राज्ञी बनने लगी। इसे गृहलक्ष्मी सह न सकी। दोनों में सदैव संघर्ष होने लगा। वाला अपने मन की समस्त शिष्टता और सभ्यता का त्याग कर चुकी थी। वह तो स्पष्ट कहा करती थी कि मैं क्या करूं? मेरे स्वामी ने मुझे क्रय ही इसीलिए किया है कि मैं अपना सर्वस्व उनके चरणों में भेंट करूं।

परिचारिकाओं पर वह अत्यन्त कुढ़ती रहती थी। जो कोई उसकी तनिक भी उपेक्षा कर देती, उसे वह पीट देती थी।

किंकरी की करुणा कृपण बन चुकी थी। शील लुप्त हो गया था। सौहार्द समाप्त हो गया था। अब एक ही आकांक्षा थी जिसे वह स्वयं नहीं जानती थी।

देविका ने आकर वाला से कहा, "स्वामी आपको बुला रहे हैं।"

वह सुनेगा भी।

"मैं कहता हूं, तुम मौन हो जाओ।"

"नहीं होऊंगी। जब तक आप इस क्षुद्र दासी को मेरी आंखों के आगे से नहीं हटाएंगे तब तक यह वाणी बंद नहीं होगी।" गृहलक्ष्मी के नयनों में अश्रु छलक आए।

"मुझ पर दोषारोपण करना व्यर्थ है। मैं तो कहती हूं कि मेरे स्वामी मुझे तुरंत मुक्त कर दें।"

एक दीर्घ श्वास लेकर मनु अग्निशिखा-सा भड़क उठा, "तुम्हें अपनी वाणी अवरुद्ध करनी ही होगी!"

"नहीं करूंगी।" गृहलक्ष्मी ने तीव्र स्वर में कहा।

"मौन हो जाओ।" प्रहार के लिए मनु के हाथ उठे; लेकिन वह अपना काम नहीं कर सके। जहां थे वहीं पर रुक गए।

गृहलक्ष्मी कांप रही थी। अश्रु नयनों से पूर्ण वेग से प्रवाहित हो रहे थे। बार-बार बोलने का प्रयास करती थी, लेकिन रोदन उसे बोलने नहीं देता था।

अंत में वह कम्पन-भरी वाणी में चीख पड़ी, "रुक क्यों गए? प्रहार करके मुझे इस संसार से ही विदा कर दो। तुम्हारा पथ प्रशस्त हो जाएगा। तुम्हारा जीवन मुदित हो जाएगा।"

मनु झुंझला उठा, "तुम सब मुझे विनष्ट करने को तत्पर हो।"

"ऐसा क्यों नहीं कहेंगे? अपने मान का ध्यान न धरकर एक क्रीत दासी से··।"

"श्रीमन्त! मैं यहां नहीं ठहर सकती।" दामिनी धरती पर धराशायी होकर लुप्त होती है, ठीक उसी प्रकार पलक झपकते बाला ने गर्जना की और कक्ष से बाहर हो गई।

मनु तड़पकर रह गया। यह एक जटिल समस्या थी, जिसका समाधान मनु अपने प्रभुत्व से नहीं निकाल सका। रोष, आक्रोश और शक्ति समस्या का समाधान नहीं कर सकी।

हो गया।

बाला पात्र में पड़े दाड़िम के दानों को चबाने लग गई थी। जैसे मनु के विचारों का इतना घोर आंदोलन उसके लिए साधारण है।

वातायन से धूप की किरणें आने लग गई थीं। पवन स्तब्ध था; पर मन चलायमान था, 'आज इस गर्विता का गर्व चूर करूंगी। कल अशिष्टता से बोली थी। स्वर्णपात्र से मेरे उरोज पर प्रहार भी किया था; पर आज उन सब अपमानों का प्रतिशोध लूंगी। ·· अवश्य लूंगी।'

किसी के आने की आहट पाकर वह संभली।

गृहलक्ष्मी के संग मनु ने प्रवेश किया। मनु का चेहरा तमतमाया हुआ था। श्वास की गति हृदय में कितना क्रोध है यह बता रही थी।

कक्ष में प्रवेश करते ही उसने बाला की ओर संकेत करके पूछा, "कल तुमने इसे पीटा?"

"नहीं।" गृहलक्ष्मी ने कहा।

"मिथ्या भाषण! मैं तुम्हारे स्वभाव को ठीक कर दूंगा।" मनु गृहलक्ष्मी की ओर उन्मुख हो गया।

"आप तो ठीक करेंगे ही, एक क्रीतदासी के समक्ष मुझे अपमानित करते आपको तनिक भी संकोच नहीं आता?" गृहलक्ष्मी भड़की।

"नहीं आता, जाओ।" दहाड़ से कक्ष ध्वनित-प्रतिध्वनित हो उठा।

"क्यों आए संकोच? जिन्होंने अपनी आन को विस्मृत कर दिया है, वे देवता के मस्तक के पुष्प थोड़े ही बन सकते हैं, वे तो पगों से कुचल जाने वाले कीट ही बनेंगे।" गृहलक्ष्मी भी आज शांत नहीं हो रही थी। उसकी मुद्रा से स्पष्ट प्रतीत होता था कि आज उसने निश्चय कर लिया है कि जो उसे एक कहेगा,

वासवदत्ता की भृकुटियां तनिक ऊपर की ओर उठ गईं। उसकी तर्जनी उसके अधरों के मध्य टिक गई।

सोती-सोती वह उठकर बैठ गई। दूसरे हाथ से शय्या पर आच्छादित मृदुल चादर को सहलाने लगी।

अल्पकाल तक वह इसी भांति विचारमग्न रही। अप्रत्याशित उसके अधर फड़क उठे, 'कदापि नहीं। अनल के समक्ष स्वर्ण का गलना अनिवार्य है। नारी के समक्ष नर का पराभव अवश्यम्भावी है।'

'तो···?' हर्ष से पुलक उठी वासवदत्ता, 'तो भिक्षु भी कृत्रिम उपेक्षा और विरक्ति के प्रदर्शन के पश्चात् मेरे प्रेम को स्वीकार कर लेगा, मेरे आत्मसमर्पण को हृदय से अंगीकार कर लेगा।···निस्संदेह ही।"

सोचते-सोचते वासवदत्ता की आंखों में प्रसन्नता दीप्त हो उठी, 'यदि भिक्षु मेरी ओर आकर्षित नहीं होता, तो क्या वह मेरा बार-बार आतिथ्य स्वीकार करता ?"

वासवदत्ता प्रसन्नता से झूम उठी, 'जीवन में सब कुछ है, एक अपना नहीं, यदि वह हो जाए तो···?'

वह मत्त मयूरी-सी अपने उत्तरीय को विस्तृत करके नृत्य करने लगी। वह अपने को विस्मृत कर बैठी, अपने उल्लास को विस्मृत कर बैठी, अपने समस्त वातावरण को विस्मृत कर बैठी।

उसे आभास हुआ कि भिक्षु मंत्रमुग्ध-सा बैठा है, सामने रखी हुई चन्दन की वेदी पर। उसके अपलक नेत्र उसके नयनाभिराम नृत्य का अवलोकन करने में मग्न हैं। उसके रोम-रोम में मादक भाव जाग्रत् हैं।

मंगलामुखी पर चमकते हुए दो तारे मानो कह रहे हैं कि जीवन की अभिव्यक्ति आनन्द है और आनन्द अनात्मा में नहीं हो सकता। आनन्द के लिए आत्मा चाहिए, ऐसी आत्मा, जिसमें अनुभूति हो।

पराजित हो गया मनु। उसका कारण था कि गृहलक्ष्मी के पिता जो एक श्रेष्ठ सामन्त थे, उन्होंने मनु को चेतावनी दे दी थी, उनकी बेटी के साथ दुर्व्यवहार झगड़ा बढ़ा सकता है।

कांपता हुआ वह जोर से बोला, "सारथी से कहो कि रथ तैयार करे। मैं एकांत चाहता हूं।"

रथ में मनु क्लांत-सा बैठा था। मंद-मंद-मंथर गति से रथ चल रहा था। नगर के घने जनपद से रथ दूर निकल आया था। यह सरिता-कूल था। संयोग से वहीं पर वासवदत्ता भी अपने रथ में उन्मन-सी बैठी थी। मनु के रथ को देखकर उसने नाक-भौं सिकोड़ी।

मनु ने समीप जाकर पुकारा, "वासवदत्ता !"

वासवदत्ता मौन रही।

"रुष्ट हो?" मनु का रथ वासवदत्ता के नितांत निकट था।

वासवदत्ता ने अपने सारथी से कहा, "रथ की गति द्रुत करो।"

मनु के देखते-देखते वासवदत्ता का रथ दृष्टि-ओझल हो गया। मनु क्रोधित होकर हुंकार उठा।

रजनी का आगमन हो चुका था। तारों-भरे नीलाम्बर के मध्य निशाकर अपनी संपूर्ण कलाओं से दीप्त हो रहा था। उसकी ज्योत्स्ना से वासवदत्ता का कक्ष क्षीर के सदृश श्वेत लग रहा था। मलय-पवन का झोंका उसकी प्रसन्नता में प्रमाद भर रहा था।

आज वह गम्भीर होकर सोच रही थी कि भिक्षु ने उसके साथ ऐसा व्यवहार क्यों किया ? क्या वह मुझे अबोध बालिका समझता है ? अपने-आप ही उसने उस प्रश्न का उत्तर दिया, 'उसका व्यवहार वास्तव में अद्भुत था। सत्वरता से निर्णय निश्चित करना तनिक दुरूह है।'

"वह क्या ?" विभ्रम दृष्टि से देखा वासवदत्ता ने।

"तुम्हारा समर्पण !"

"मेरा समर्पण ?"

"हां, वासवदत्ता ! मैं तुम्हें विश्वास से कहता हूं कि जीवन-भर तुम्हारी प्रत्येक अभिलाषा को पूर्ण करता रहूंगा।"

"यह मेरे वश का नहीं है।"

"इसका परिणाम भयंकर हो सकता है।"

"आज कोई अनिष्ट करने को आए हो क्या ?"

"हां, आज प्रभात से ही अनिष्ट होते जा रहे हैं। दो को पदाघात कर चुका हूं और अब तुम्हारे पास अपने प्रेम का प्रतिफल लेने आया हूं।" मनु का स्वर कर्कश हो गया।

"प्रेम या वासना का ?"

"यह वारांगणा स्वयं समझे।"

"मनु ! तुम इसी क्षण चले जाओ।"

मनु ने श्वेत वस्त्र में आवेष्टित हीरकजड़ित कटार निकाली। उस पर हाथ फेरकर कुंठित स्वर में बोला, "चला जाऊं, बिना किसी निर्णय के ?"

"क्या निर्णय चाहते हो ?" वासवदत्ता के नयन द्वार की ओर गए।

मनु उसके नयनों की गति का तात्पर्य समझ गया। उसने लपककर द्वार बन्द कर लिए। वासवदत्ता के चेहरे पर भय मूर्त हो उठा। उसने कक्ष में अपनी स्थिर पलकें दौड़ाईं। अपने ही अतुल वैभव में उसका श्वास घुट रहा था।

हठात् एक भयंकर विचार उसके हृदय में धावित हुआ। वह कांप उठी, 'कहीं मनु यह कटार…?'

वह बड़बड़ा उठी, "तुम चले जाओ मनु ! मैं आज्ञा देती हूं कि तुम चले जाओ।"

"अपनी चाह का प्रतिदान लिए बिना ही ?"

वासवदत्ता मौन रही।

"जो मैं चाहता हूं, उसे मुझे निर्विरोध करने दो अन्यथा ासवदत्ता, परिणाम भयंकर हो सकता है।"

मनु की उंगलियां भयभीत वासवदत्ता के ग्रीवा मूल पर ड़ीं, जहां उसके द्वारा प्रदत्त पुखराज मणि दीपिका के प्रकाश से ालमिला रही थी।

जब वासवदत्ता ने विरोध किया, तो वे अंगुलियां लोह ृखला-सी उसकी ग्रीवा को दबोचने लगीं। वासवदत्ता ने सतृष्ण ात्रों से मनु की ओर देखा।

मनु ने उसे मुक्त कर दिया, "चिल्लाने का प्रयास किया, ो इस कटार से तुम्हारे प्राण ले लूंगा।"

यह सुनकर वासवदत्ता आहत सर्पिणी-सी फूत्कार उठी, "सामन्त! निर्बल की परिस्थिति का अनुचित लाभ उठाकर ुम भी सुख से नहीं रह सकते। इसका परिणाम अच्छा नहीं होगा।"

मनु की त्योरियां बदल गईं। वासना के अंक में सुप्त उसका उत्तेजित, पथ-विस्मृत मन एक गणिका की यह चुनौती सुनकर तप्त हो उठा, "परिणाम से मनु को न रंचमात्र भय है, न अणु-मात्र चिन्ता; पर आज तुम्हारे नयनों की मादकता का यह अनाहूत अवश्य पान करेगा। तुम्हारे अधर-आसव से अपने अतृप्त अधरों को तृप्त करेगा। तुम्हारे यौवन की आंधी को अपने यौवन के झंझा में विलय करेगा।···बोलो, सुन्दरी, प्रतिशोध की क्षमता है?"

"नहीं।"

"तो तैयार हो जाओ!"

वासवदत्ता आगत संकट से आकुल व विचलित होकर दूर खड़ी हो गई। रक्ताभ चेहरे पर पीलापन छा गया। कुछ बोलने का प्रयत्न करने पर भी नहीं बोल सकी। मनु की भुजाएं अजगर

की भांति वासवदत्ता के तन से [illegible] लगीं। देखते-देखते वासवदत्ता मनु की गोद में थी। वासवदत्ता छटपटा उठी।

मनु ने कटार खींच ली। वासवदत्ता मौन हो गई, नितान्त मूक, फिर वासवदत्ता चीत्कार कर उठी, 'छोड़ दो मनु! छोड़ दो। मैं कहती हूं छोड़ दो, पतित! नराधम! छली! छोड़ दो मुझे…छोड़ दो।'

वासवदत्ता जितनी उन्मुक्त होने का प्रयास कर रही थी, मनु उसे उतना ही जकड़ रहा था। वासना अनाचार करने के लिए तत्पर हो गई थी।

वासवदत्ता पुनः सिसक पड़ी, "छोड़ दो मनु! मुझे छोड़ दो।"

'मनु ज्वालामुखी-सा भड़का, "मायाविनी! तन में छल, मन में छल, जीवन में छल, प्रत्येक चेष्टा में छल!… छलनामयी!"

"यह अन्याय है?"

"अन्याय!" मनु ने घृणा से कहा, "उस समय तुम्हारा न्याय कहां चला गया था, जब मैं तुम्हें अपार धन देता था?"

वासवदत्ता तड़प उठी, "फिर भी कुकृत्य मत करो मनु!"

"मैं कर रहा हूं या तुम मुझे करने के लिए विवश कर रही हो?" मनु के स्वर में प्रतिहिंसा की आग थी।

"यह अपराध है।"

"जानता हूं गणिके! किसी को मूर्ख बनाना भी तो अपराध है। यह अपराध तुमने भी किया है। अतः तुम्हें भी दण्ड मिलेगा।" और देखते-देखते मनु ने वासवदत्ता के वसनों को विदीर्ण करने का प्रयास किया।

क्या करती वासवदत्ता? चीख नहीं सकती थी। उसकी चीख ही उसकी मृत्यु थी। अतः वह मनु को टुकुर-टुकुर दयनीय

दशा से देखने लगी।

मनु का विवेक वासना के वशीभूत था, केवल वासना के।

वासवदत्ता ने अचानक अपनी पूर्ण शक्ति से उसे धक्का मारकर भूमिसात् कर दिया। मनु क्षुधित सिंह की भांति वासवदत्ता पर झपटा। वासवदत्ता ने उसका अपनी समग्र शक्ति से प्रतिरोध किया।

यह क्या ? प्रकाश में चमचमाती कटार वासवदत्ता के कर में मृत्यु-सी भयानक होकर चमक उठी।

मनु ने एक जोर का अट्टहास किया। सारा कक्ष गूंज उठा, कांप उठा।

वासवदत्ता के नयनों में ज्वालाएं जलने लगीं। रणचंडी-सी विकराल होकर उसने मनु को रोका, "भला चाहते हो तो बाहर निकल जाओ अन्यथा प्राणों से हाथ धोना पड़ेगा।"

चेतावनी व्यर्थ गई। मनु वासना में विवेकशून्य हो चुका था। उसी प्रकार वह पैशाचिक अट्टहास करके वासवदत्ता पर झपटा, "अप्रतिष्ठामयी ! छलना ! वासना ! आज तुम्हारे सौन्दर्य को कलंकित करके ही रहूंगा।··· तुमने मेरे हृदय पर जो प्रहार किए है, उन्हें मैं कदापि विस्मृत नहीं कर सकता।"

"मनु, दूर रहो।···मैं कहती हूं कि तुम दूर रहो अन्यथा···" भय और रोष के मारे वासवदत्ता का अंग-प्रत्यंग कांप रहा था। उसकी वाणी चीत्कार में परिवर्तित हो गई थी; पर मनु को इस परिवर्तन का तनिक भी ध्यान नहीं रहा।

वह अन्धा था। अधरों को काटता हुआ भयानक स्वर में बोला, "वारांगणे ! आज तुम्हारे छल का दण्ड दूंगा। तुमने मुझे अत्यन्त कष्ट दिया है, श्वान की भांति दुत्कारा है; लेकिन मैं जिस वस्तु को प्राप्त करना चाहता था, उसे प्राप्त नहीं कर सका; लेकिन आज···?"

मनु उन्मादित हो गया। उसके आचार, विचार, वाणी

चक्षु और आत्मा, सबमें वासना का समावेश हो गया। वह अपने दोनों हाथों को फैलाकर वासवदत्ता पर झपटा। वासवदत्ता ने एक हृदयवेधक चीत्कार किया। उसके हाथ में कटार ज्वाला-सी भभक उठी।

एक जोर की चीख के साथ मनु तड़पा, "नीच ! कुलटा ! दुराचारिणी···" मनु का स्वर शान्त हो गया।

और स्वयं वासवदत्ता मनु की दुर्दान्त मृत्य पर कांप उठी। कटार उसके उदर को वीभत्स रूप से चीरती हुई नाभि तक आ गई थी। वासवदत्ता भी करुण क्रन्दन कर उठी। उसने दरवाजा खोला। बाहर दण्डपांशुल व परिचारिकाएं भी आ गए थे; लेकिन वे भी निस्पंद-से खड़े थे।

मनु ने अल्पकाल तक वासवदत्ता को प्रतिशोध-भरी दृष्टि से देखा, जैसे उसकी स्थिर होती हुई आंखें कह रही हैं, 'इस जन्म में नहीं तो क्या, अगले जन्म में तुम दुष्टा से अवश्य प्रतिशोध लूंगा।'

मनु ने एक जोर की हिचकी ली और इस असार संसार से चला गया।

वासवदत्ता सर्वप्रथम कटार को देखकर जड़वत् खड़ी रही। उसकी पुतलियां स्थिर एवं निष्प्रभ हो गई। तब वह मनु के लहू-लुहान शव पर पड़कर सिसक-सिसककर दारुण रोदन करने लगी।

नगर में मनु की मृत्यु का समाचार प्रत्यूष की प्रथम किरण के आलोक-सा प्रसारित हो गया। श्रेष्ठि-पुत्रों, लक्षाधीशों तथा सामन्त-पुत्रों में इस हत्या से रोष छा गया। जहां खड़े होते थे, वहीं पर बस यही चर्चा थी। ऐसा प्रतीत होता था कि समस्त नगर में आतंक छा गया है।

नगरपति ने अपने चरों द्वारा शव का अन्वेषण और निरी-

क्षण कराया। कितनी बीभत्स मृत्यु थी मनु की, नगर के प्रतिष्ठित सामन्त-पुत्र की। वासवदत्ता, नगर के युवकों की सम्राज्ञी आज बन्दिनी बन गई थी।

नगरपति, महासचिव, महादण्डनायक, दण्डनायक और नगर के प्रसिद्ध तथा प्रतिष्ठित श्रीमन्त तथा सामन्तगण न्याय-निर्णय हेतु एक सभा में एकत्रित हुए।

अत्यन्त तर्क-वितर्क के पश्चात् यह निर्णय किया गया कि प्राण के विनिमय में प्राण लेने चाहिए। नगर के प्रतिष्ठित मनु के प्राण के बदले में इस तुच्छ गणिका को मृत्युदण्ड मिलना चाहिए।

इस भयानक निर्णय से नगरपति विचलित हो गए। उन्होंने सोचकर कहा, "गणिका वासवदत्ता के प्रति हम यह अन्याय कर रहे हैं।"

नगरपति का इतना कहना था कि उपस्थित सज्जनों में से एक अत्यन्त तरुण राजवर्गीय पदाधिकारी ने नेत्रों में क्रोध भर-कर कहा, "गणिका वासवदत्ता इस घटना में सर्वथा निरपराध है। अपराध की प्रेरणा देने वाला उसका यह अलौकिक सौन्दर्य है। इस सौन्दर्य पर विमोहित मनु उस पर आसक्त हुआ, अप-राध की ओर प्रेरित हुआ, अतः वासना की प्रतिमूर्ति वासव-दत्ता को सौन्दर्य-वंचित कर दिया जाए, उसको कुरूप बना दिया जाए। उसका समस्त धन तथा भवन राजकीय अधिकारी अपने अधीन हस्तान्तरित कर लें।"

समस्त उपस्थिति ने अपनी स्वीकृति इसी निर्णय के लिए दे दी।

वासवदत्ता ने यह निर्णय सुना तो सभासदों के मध्य वह शेरनी की भांति खड़ी हो गई, "नगरपति, महासचिव, महा-दण्डनायक, श्रीमन्त और सामन्त ! प्रणाम।

"न्याय भगवान् की वाणी होता है और न्यायकर्त्ता भग-

वान्। यदि न्यायकर्त्ता स्वार्थ और अपनत्व में अपने सिद्धांतों और धर्म को विस्मृत करके अनुचित न्याय करते हैं, तो वे भी बड़े अपराधी हैं, इस सृष्टि के नहीं, उस सृष्टि के जो चन्द्र-सूरज के उस ओर है।

"मैं जानती हूं, सामन्तों और श्रीमन्तों का नगर में प्रभुत्व है, निरंकुशता है; लेकिन नगर के नगरपति के समक्ष क्या विवशता और भय है, कि वह अनुचित निर्णय को देवता की वाणी समझकर मौन बैठे सुन रहे हैं ?

"मैं स्वीकार करती हूं, मैंने मनु की हत्या की; लेकिन अपनी कटार से नहीं, उसकी अपनी कटार से। मनु वाणिनी के वक्ष को चीरकर अपनी अन्तर्ज्वाला को शांत करना चाहता था; पर वह करुणा पात्र ऐसा नहीं कर सका, उसकी कटार उसी का भक्षण कर गई।···लेकिन क्यों ? क्योंकि वह मेरी भावुक भावनाओं और लालसाओं को भक्ति से नहीं, शक्ति से कुचलना चाहता था। वह मेरे साथ बलात्कार करना चाहता था और उसने इन्हीं कपोलों को अपने विषाक्त पंजों से काटा था। सभासद्-वृन्द ! मनु ने मेरी प्रतिष्ठा पर आघात किया।"

"गणिका अपनी प्रतिष्ठा की परिभाषा तो करे ?" एक श्रेष्ठि ने कड़ककर पूछा।

"मेरी प्रतिष्ठा ?···मेरी प्रतिष्ठा·· उन नारियों से अधिक है, क्योंकि मैं समाज के अत्याचारों की नग्न सत्य होकर भी उसका भला करती हूं। उन असन्तुष्ट मनों को भी अपनी कला से शमन करती हूं, जो सन्तुष्टि के अभाव में अपराध की ओर उत्प्रेरित होते हैं।"

"तुम कुछ नहीं हो। सत्य तो यह है कि तुम धन की पुतली हो। धन ही तुम्हारा सर्वस्व है। तुम आमोद की वस्तु हो, आमोद करना तुम्हारा धर्म है।" महासचिव ने कहा।

"यह धर्म भी तो आपके द्वारा ही प्रदत्त है। नारी को क्रीड़ा

की वस्तु बनाने वाले आप ही तो हैं, न्यायकर्त्ता, धर्मात्मा और समाज-सेवक ! मैं पूछती हूं।" वासवदत्ता का स्वर और तीव्र हो हो गया, "मनु को क्या अधिकार था वह अनाहूत की भांति मेरे कक्ष में प्रवेश करता ?"

इसका अकाट्य उत्तर दिया गृहलक्ष्मी ने, "क्योंकि वे तुमसे हार्दिक प्रेम रखते थे। वे प्रायः तुम्हारे यहां आते-जाते थे। तुम्हारे और उनके प्रेम-पत्रों का परस्पर सदैव ही विनिमय होता रहता था। उन प्रेम-पत्रों में इस दुराचारिणी की इतनी मधुर बातें होती थीं, जिसे एक पत्नी भी नहीं लिख सकती।...इनका प्रेम-पत्र चलता रहा। मैं अपने पति के इस दुष्कर्म को सहन नहीं कर सकी। परिणाम यह हुआ कि अल्पकाल के पश्चात् हम पति-पत्नी के मध्य घोर द्वन्द्व उठ खड़ा हुआ। कभी-कभी इस कुपात्रा के कारण मेरे देव-तुल्य पति मुझ पर हाथ तक उठा लेते थे।"

एक मूढ़ श्रेष्ठि-पुत्र धनराज विदूषक की भांति बेडौल मुंह बना करके बोला, "तुम स्त्रियां हम श्रेष्ठियों के विलास में क्यों बाधक होती हो, फिर तुम पर कौन विश्वास करे कि तुम भी धर्म की भांति निष्कलंक हो। मैं जब एक गणिका के यहां प्रस्थान करने लगा, तो मेरी सहधर्मिणी ने मेरे भृत्य के संग अनुचित सम्बन्ध स्थापित कर लिया।"

सभासदों में हंसी गूंज गई। उस हंसी को विदीर्ण करती हुई नगरपति की आज्ञा गूंजी। सब मौन हो गए।

वासवदत्ता का क्रन्दन गूंज उठा, "धन से नारी की अभिलाषाओं की तृप्ति नहीं होती। आप लोग नारी को प्रमोद का साधन मात्र समझते हैं, उसकी भावनाओं का उपहास उड़ाते हैं, उसकी वाणी को व्यर्थ का प्रलाप समझते हैं और जब नारी आप लोगों की सत्यता को जानकर विरोध करती है, तो आप उसे किसी कुचक्र में फंसाकर दण्डित कराने का प्रयास करते हैं।...यही तो

है आपका न्याय ?"

तर्क-वितर्क और कुतर्क चलते रहे, पर कोई अन्तिम निर्णय नहीं निकला। न्यायधीश ने वासवदत्ता से अगले दिवस अपने को निर्दोष प्रमाणित करने के लिए प्रमाण मांगे, साक्षियां मांगीं।

वासवदत्ता की ओर से एक भी साक्षी नहीं आई, क्योंकि श्रेष्ठि-पुत्रों-सामन्तों ने उसके समस्त अनुचरों तथा परिचारिकाओं को धन और भय से अपनी ओर मिला लिया था। न्यायाधीश ने वासवदत्ता को कुरूप बनाने का दंड दे दिया।

तब वासवदत्ता ने अबोध शिशु की भांति रोदन करके प्रार्थना की, "मुझे कुछ दिवसों के लिए मुक्त कर दिया जाए। मैं एक बार अपने प्रेमी से इसी सौंदर्य के साथ भेंट करना चाहती हूं। जब वह मुझे...नहीं-नहीं, मुझे कुरूप मत बनाओ; प्राण ले लो, मेरा यह रूप न लो। रूपविहीन मैं दानवी का जीवन व्यतीत नहीं कर सकती। मुझे मृत्यु-दण्ड दे दो।"

मर्मभेदी वासवदत्ता की वाणी वातावरण का हृदय विदीर्ण कर रही थी। प्रार्थना-पर-प्रार्थना करती जा रही थी वह, लेकिन जो निर्णय हो गया, वह परिवर्तित नहीं हो सका।

दंडगृह में जब वासवदत्ता लाई गई तो उसके कर्णों में प्रतिध्वनि की भांति उपगुप्त के शब्द गूंज उठे, "आसक्ति की अतृप्ति में उपेक्षा और विरक्ति का प्रदर्शन, मनुष्य की स्वाभाविक दुर्बलता है। अतृप्ति की प्रतिक्रिया असन्तोष के रूप में होती है और वह असन्तोष कभी-कभी प्राणी को अपराध की ओर भी अग्रसर कर देता है।"

कल के शब्द आज सत्य हो गए।

और उसके मस्तिष्क में हथौड़े की भांति मार्मिक प्रहार करने लगे संन्यासी के शब्द, "वासना विवेक को नष्ट कर देती है।" वासवदत्ता पश्चात्ताप में पीड़ित होकर चीख पड़ी। अप्रतिम सुषमा-सम्पन्न सौन्दर्य देवी कुरूप बना दी गई। उसे नगर

के बाहर एक जीर्ण-शीर्ण खंडहर में पहुंचा दिया गया।

समय परिवर्तित हो गया, तो सब बदल गए। वासवदत्ता का अवर्णनीय रूप आज घृणास्पद होकर मनुष्य के वाक्यबाणों का केन्द्र-बिंदु बन गया।

उसके अनेकानेक प्रेमी, जो अच्छे दिनों में अनेक प्रतिज्ञाएं प्रेम की किया करते थे, आज उसे दृष्टि-भर को देखने तक नहीं आते थे। दैवयोग से कभी इस पथ से विचर भी जाते, तो उपेक्षा से अपना मुंह फेरकर चले जाते थे। तब वासवदत्ता का रोम-रोम रो पड़ता था। दर्पण से उसे घृणा हो गई थी। कभी-कभी किसी पथिक के रथ पर लगे दर्पण में वह अपना चेहरा देख लेती तो विक्षुब्ध-सी होकर चीखें भरने लगती थी।

वह सोचा करती थी, जिस स्वर्णिम कांति-सा आलोकित चन्दन-चर्चित, सुरभित तन का दर्शन पाकर जनपद सुख की तृप्ति का आनन्द लिया करता था, आज वही तन उन्हें भयभीत करने के लिए घिनौना होकर मौन अट्टहास किया करता है।

वह दिवा-रात्रि करुण क्रन्दन किया करती थी। कभी-कभी आत्मघात करने के लिए तत्पर हो जाती थी। दो-एक बार वह सरिता के दक्षिणी छोर पर जो पर्वतीय उच्च शिला-खंड था उस पर जाकर भी अपने प्राणों का त्याग नहीं कर सकी थी। क्यों नहीं कर सकी थी? इसे वह स्वयं नहीं जानती थी। एक दुर्बलता थी, जिसे दार्शनिकों ने जीवन के प्रति मोह कहा है, कदाचित् वही उसे निर्बल कर देती थी।

अपने पर झुंझलाहट, घृणा और आक्रोश उसे प्रतिपल आता-जाता रहता था। स्वभाव में एक विचित्र चिड़चिड़ापन और कठोरता आ गई थी। बात-बात पर वह अपने कुन्तलों को नृशंसता से खींचकर अपने कपोलों पर अपने ही करों द्वारा प्रहार किया करती थी।

यह उसकी प्रथम मनोदशा थी। और दूसरी, वह दिन-भर प्रस्तर की प्रतिमा की भांति अर्थशून्य दृष्टि से अनन्त को निहारती रहती थी। कभी-कभी वह हंस पड़ती थी, रो पड़ती थी, मुसकरा पड़ती थी।

बड़बड़ा उठती थी, "धन सृष्टि की सबसे हेय और निकृष्ट वस्तु है। अतः सर्वप्रथम देश के विधाता को उस पर अपना आधिपत्य करके उसका सही वितरण कर देना चाहिए, ताकि अनाचार-भ्रष्टाचार को प्रोत्साहन न मिले।"

और कभी-कभी वह धरती पर अपनी तर्जनी से लिखा करती थी, "प्रिय उपगुप्त ! मेरे सर्वस्व···!! अब तुम मत आना, कभी भी मत आना।" और इस प्रकार प्रणय-प्रलाप करती वह लिखने लगती थी, "हत्या, मैंने मनु की हत्या की, मैं हत्यारिणी हूं, पापिन हूं, दुराचारिणी हूं।'

और वह रोती रहती थी, कलपती रहती थी, तरसती रहती थी। दिवस आते थे, रातें जाती थीं। हतभागिनी वासवदत्ता अपना विकृत रूप लिए दुर्दिन व्यतीत कर रही थी। न कोई उसे अपना कहने वाला था और न ही वह किसी को अपना कह सकती थी। केवल जीने के लिए जीवित थी।

आज प्रभात हुआ। वह प्रभात जिस प्रभात को भिक्षु ने वासवदत्ता का प्रणय स्वीकार करने की प्रतिज्ञा की थी। पिपासा को पूर्ण करने का आश्वासन दिया था।

जीवन से भाराक्रान्त वासवदत्ता पथ पर जा रही थी। चिन्ताओं से उसकी मनःस्थिति ठीक नहीं थी। अचानक उसकी मुठभेड़ एक भिखारी से हो गई।

भिखारी भी उसे पहचानता था। उसका स्पर्श होते ही भिखारी प्रतारणा देता हुआ बोला, "हत्यारिन ! तुमने मेरा स्पर्श क्यों किया ? तुमने अपने विगत जीवन में रूप के अमृत को विष बनाकर कइयों का सुख हरण किया था। अब भगवान् तुम्हें

अपने कर्मों का भयंकर दण्ड दे रहा है।…मैं भी तुम्हें श्राप देता हूं कि जल की एक-एक बूंद के लिए तरस-तरसकर तू अपने प्राण त्यागे।"

एक सामन्त समीप ही खड़ा था। जब भिखारी मौन हो गया तो वह सामन्त बोला, "मैं तो कहता हूं कि इसके शव में कीड़े पड़ जाएं। इसने मुझे खूब लूटा है।"

लांछन-पर-लांछन। वासवदत्ता तिलमिला उठी। ऐसी भयानक मृत्यु की कल्पना मात्र से वासवदत्ता की आंखों के आगे घना अन्धकार छा गया।

उसने तुरन्त विचारा, 'ऐसी निकृष्ट मृत्यु आए, इसके पूर्व ही मुझे अपने निन्दनीय जीवन का अन्त कर देना चाहिए।'

विचार निर्णय में परिवर्तित हो गया। वह जनपद पर आकर द्रुतगति से धावित होने वाले रथ की प्रतीक्षा करने लगी। जनपद पर आवागमन भी तनिक अधिक था। इसी बीच वासवदत्ता को एक अत्यन्त रमणीक स्वर्ण-ध्वज-मंडित रथ भागता हुआ दिखलाई पड़ा। सारे व्यक्ति उस रथ को देख रहे थे। उनका देखना स्पष्ट बता रहा था कि अवश्य ही यह रथ किसी महत्त्वपूर्ण व्यक्ति का है। जब रथ थोड़ी दूर रहा तो वासवदत्ता उसके समक्ष उन्मत्त-सी भागी।

सारे लोग विकलता से चिल्ला पड़े, "सारथी, रथ रोको, रथ रोको, रथ रोको।"

अश्व बलिष्ठ थे। अधिकार में नहीं आ सके। लोगों ने नेत्र मूंदकर मन-ही-मन कहा, "बेचारी मर गई।"

पर दूसरे ही पल सबने देखा, आत्मघात करने वाली कुरूप युवती किसी भिक्षु द्वारा बचा ली गई है। सब लोग उस भिक्षु को उसकी जय-जयकार के साथ धन्यवाद देने लगे।

लोगों ने आत्मघातिन को पहचाना। सब ग्लानि से मुंह फेरकर चलते बने, "हत्यारिणी वासवदत्ता!"

अश्रु से परिपूर्ण नयनों से वासवदत्ता रोदन-भरे स्वर में बोली, "तुमने मुझे क्यों बचाया, क्यों बचा···?" अभी तक वासवदत्ता की चेतना दुःख के अथाह सागर में लुप्त थी। अतः उपगुप्त को पहचान नहीं सकी।

"यह मेरा धर्म है।" भिक्षु बोला।

बाणबेधित की भांति वासवदत्ता चीत्कार उठी, "तुम !··· तुम !!·· तुम यहां क्यों आए ?"

"मैंने तुम्हें आज आने का वचन दिया था।"

"नहीं।" वह चीख पड़ी।

उपगुप्त उसे रोके, इसके पहले ही वासवदत्ता भाग गई। उसने अपने द्वार अवरुद्ध कर लिए। उसकी सिसकियां अब भी सुनाई पड़ रही थीं। उपगुप्त उसके जीर्ण-शीर्ण गृह के समीप आकर द्वार खटखटाने लगे।

"कौन हो ?" कहने के संग द्वार खुले, "तुम ?" द्वार पुनः अवरुद्ध हो गए।

"देवी ! अतिथि का ऐसा अपमान नहीं करना चाहिए। द्वार खोलो। जो व्यक्ति सत्य का सामना करता है, वह अजेय हो जाता है। खोलो, द्वार खोलो।" द्वार धीरे-धीरे पुनः खुले।

"उपगुप्त !" वासवदत्ता के अश्रु से ओत-प्रोत नयनों में क्षमा थी, "क्यों आए हो ?"

"तुमसे प्रतिज्ञा जो की थी।"

"हां, लेकिन अब लौट जाओ।"

"क्यों ?"

"क्योंकि मेरे पास कुछ नहीं है। न कुन्दन-सा तन, न वैभव-विलासी मन और न इन प्रसाधनों को एकत्रित करने वाला धन, अतः भिक्षु ! तुम लौट जाओ। इस भयानक कुरूप नारी में अब कोई आकर्षण नहीं है।"

"लेकिन इस भयानक रूप में एक कल्याणकारी अद्वितीय

ज्योति का प्रादुर्भाव जो हुआ है, जिसे मैं देख रहा हूं।"

"कौन-सी ज्योति का अवतरण हुआ है ?"

"प्यार की ज्योति का !"

"प्यार ?" चौंक पड़ी वासवदत्ता।

"हां प्यार !...भगिनी ! तुम्हारे हृदय में लौकिक प्यार का उद्भव तो अभी ही हुआ है। इसके पूर्व एक उद्दाम वासना थी और वासना नाशवान् होती ही है। वासना के नाश के साथ तुम्हारे हृदय का समग्र कलुष धुल गया है। प्रेम का निर्मल निर्झर तुम्हारे उर में प्रवाहित होकर सात्त्विकता, सादगी और सुबुद्धि का संचार कर रहा है।"

"माता !" उपगुप्त ने पलकों को बन्द करके पुनः खोला, "मैंने इन नेत्रों से तथागत को पृथ्वी पर अमृत वर्षण करते देखा है, क्योंकि मेरा मन उनकी मूर्ति का ही अभिलाषी है और तुमने मोह तथा प्रलोभन में पड़कर, सांसारिक भोग-विलास में फंसकर भगवान् बुद्ध की कल्याणकारी वाणी का श्रवण नहीं किया, अपितु क्षणभंगुर सौन्दर्य पर गर्वित होकर जीवन के महान् सत्य को विस्मृत कर बैठीं।

"रूप की सुन्दरता और मनोहरता नश्वर है। जीवन के सत्य को जानने का प्रयास करना चाहिए और मुक्ति के मार्ग की ओर प्रशस्त होकर निर्वाण प्राप्ति की ओर प्रत्येक प्राणीमात्र को प्रयास करना चाहिए।"

वासवदत्ता भिक्षु की दिव्य वाणी सुनकर उनके चरणों में लोट गई। चरण वासवदत्ता के अश्रु से तरल हो गए।

अशैक्ष उपगुप्त ने उसे उठाकर प्यार से छाती से लगाया और स्नेह से उसे सहलाने लगे, "तुम्हें अब प्यार चाहिए और मैं अपने वचनानुसार तुम्हें प्यार दूंगा, एक पुत्र का प्यार, एक एक भ्राता का प्यार, केवल प्यार नहीं, जीवन का समस्त दुलार।...उठो ! महापुरुष तथागत का ध्यान धर के मनसा,

वाचा, कर्मणा उनके द्वारा बताए निर्वाणपथ के मंत्रों को सुनो। उनके श्रवण मात्र से तुम्हारे अशान्त हृदय को शान्ति मिलेगी, क्लान्त मन को धैर्य मिलेगा।"

इतना कहकर आचार्य उपगुप्त कुरूप वासवदत्ता को धार्मिक पद्धति का ज्ञान कराके धर्मोपदेश देने लगे, "अपने भीतर ज्ञानशक्ति, ध्यानशक्ति, कर्मशक्ति, आत्म-विश्वास और उत्साह की उल्का ज्वलित करके तुम्हें काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, तृष्णा, मत्सर, ईर्ष्या, दुराग्रह, निर्बलता और आलस्य का त्याग करना चाहिए।

"स्वस्थ तन, इन्द्रिय-निग्रह, मन-संयम और पूर्ण पुरुषार्थ, दृढ़ संकल्प के साथ-साथ इन आठों दुःखों—जन्म, रोग, जरा, मृत्यु, शोक, निराशा, संयोग-वियोग—से मुक्त होना चाहिए।

"अमिताभ के निर्वाण, दुःखों और दुःखों के कारणों से मुक्त होने के मूलमंत्र पर तुम्हें अपने जीवन की समस्त साधना लगा देनी चाहिए। किसी को दुःख नहीं देना चाहिए। किसी की वस्तु को नहीं चुरानी चाहिए। सबकी सेवा करनी चाहिए। मिथ्या भाषण से बचना चाहिए, निर्भयता, विवेक और प्रेमपूर्वक सत्यपरायण करना चाहिए। मिथ्या समाचार प्रसारित करना भी एक अपराध है, अतः इससे भी सदैव दूर रहना चाहिए। दूसरों के अवगुणों को मत देखकर उसके गुणों पर ध्यान देना चाहिए। शपथ कभी भी नहीं खानी चाहिए। समय को व्यर्थ में नहीं गवाना चाहिए। सार्थक बात करनी चाहिए और मौन रहना चाहिए। लोभ-ईर्ष्या का त्याग करके दूसरों की उन्नति से प्रसन्न होना चाहिए। मन से द्वेष मूल को मिटाकर शत्रुओं का भी भला सोचना चाहिए। अज्ञान का नाश करके सत्य का अन्वेषण करना चाहिए। निराशा के अस्तित्व को ही मिटा देना चाहिए।"

उपगुप्त ने शांत स्वर में कहा, "यही निर्वाण है। इन्हीं

उपदेशों का पालन करके प्राणी निर्वाण के परम पद को प्राप्त करता है। वासवदत्ता ! संभलो ! ! जागो ! ! ! अपने मन के पवित्र उच्च भावों तथा वृत्तियों का सम्बल लेकर बुद्ध भगवान की शरण में आकर अपने कल्याण की प्रार्थना करो। जीवन का वास्तविक आनन्द तुम्हें वहीं मिलेगा।"

आगे-आगे भिक्षु चला। भिक्षु संग यन्त्र-चालित-सी वासवदत्ता द्वार की ओर बढ़ी। भिक्षु के अधर पर सौम्य मुसकान थिरक उठी। उसने मन-ही-मन सोचा, 'यह विजय मेरी नहीं, मेरे प्रभु तथागत की है।'

द्वार के बाहर होते ही भिक्षु ने उच्च स्वर में कहा, "बुद्धं सरणं गच्छामि। धम्मं सरणं गच्छामि। संघं सरणं गच्छामि।"

वासवदत्ता ने देखा, भिक्षु के दिव्यानन पर एक अद्भुत आलोक दीप्त हो रहा है। द्वार के बाहर ही कवि राहुल नत-नयन खड़ा था। आचार्य उपगुप्त को देखकर प्रणाम करने लिए झुक गया।

आचार्य उपगुप्त ने आशीर्वाद देकर कहा, "संघ की ओर प्रस्थान करो भिक्षु !"

और वासवदत्ता के अधर भगवान् बुद्ध के त्रिरत्नों को उच्चरित करने के लिए तड़प उठे : बुद्धं सरणं गच्छामि। धम्मं सरणं गच्छामि। संघं सरणं गच्छामि।